साहित्य दर्पण संग्रहः

(सानुवादः)

[लखनऊ विश्वविद्यालय के बी० ए० प्रथम एवं द्वितीय वर्ष,
के संस्कृत छात्रों के पाठ्यक्रम में निर्धारित]

सम्पादक

संस्कृत-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

प्र का श न के न्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226 020

(फोन : 323035, 367314)

साहित्य दर्पण सङ्ग्रहः

(सानुवादः)

[लखनऊ विश्वविद्यालय के बी.ए. प्रथम एवं द्वितीय वर्ष के संस्कृत छात्रों के पाठ्यक्रम में निर्धारित]

सम्पादक

संस्कृत-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

प्रकाशन केन्द्र

डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ - 226 020

(☎ : 323035, 367314)

प्रकाशक : **प्रकाशन केन्द्र,**
डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ - 226 020

वर्ष : **1994-95**

मूल्य : पन्द्रह रुपये पचास पैसे **(Rs.15.50)** मात्र ।

साहित्यदर्पणसङ्ग्रहः

आचार्य विश्वनाथकविराजविरचितोऽलङ्कारशास्त्रग्रन्थः 'साहित्यदर्पणो' नाम विदुषां समाहतो राजतेतरामिति जानन्त्येव सर्वे । ग्रन्थस्याऽस्य विस्तृतत्वाच्छात्राणां स्नातककक्षास्वध्येतॄणां कृते न समग्रग्रन्थोऽयं पाठ्यक्रमे पाठयितुं शक्यः । अत एव तेषां स्नातकप्रथमद्वितीयवर्षच्छात्राणां कोमलमतिषु काव्यशास्त्रीयं किञ्चिज्ज्ञानमापूरयितुं साहित्यदर्पणस्य सारं प्रदुह्य सम्पादितोऽयं 'साहित्यदर्पणसङ्ग्रहो' नाम ग्रन्थः । अत्रत्यच्छात्रजनसुबोधाय चाऽस्याऽनुवादं प्रस्तूय ग्रन्थश्लोकदुर्बोधत्वं दूरीकृतमिति दृढं विश्वसिमि यच्छात्रेभ्योऽध्यापकेभ्यश्च रोचतेतमामयं 'साहित्यदर्पणसङ्ग्रहः' । आचार्यविश्वनाथस्य जीवनवृत्तं 'साहित्यदर्पण' स्य न विषयवस्तु विज्ञापयितुं हिन्दीभाषयैका भूमिकाऽप्यत्र समायोजिता । आशास्यते यत् 'साहित्यदर्पणसङ्ग्रहो'ऽयं छात्रजनहिताय भविष्यतीति ।

अस्यसंग्रहस्य सम्पादने विभागीय प्राध्यापकेन डॉ० ब्रजेशकुमार शुक्लेन यत्साहाय्यमा-

चरितं तदर्थं तस्मै साधुवादः प्रदीयतेऽस्माभिः

ग्रन्थस्यास्य शीघ्रतया प्रकाशनाय श्रीपद्मधर मालवीयोऽपि

धन्य वादमर्ह ति ।

विषयानुक्रमणिका

द्वितीयोविन्यासः

(इति विषयानुक्रमणिका)

भूमिका

'कवेः कर्म काव्यम्' उक्ति के अनुसार कवि के कर्म अथवा रचना को काव्य की सञ्ज्ञा प्राप्त है । काव्य सहृदय-हृदय को आह्लादित करने के कारण प्राचीनकाल से ही लोकप्रिय रहा है । आदि कवि वाल्मीकि की कविता 'रामायण' तथा महर्षि व्यास की वाणी 'महाभारत' प्राक्कालीन काव्य के उदाहरण हैं । तत्पश्चात् अश्वघोष, कालिदास प्रभृति कवियों ने मनोरम काव्यों की सृष्टि की । अनेकविध काव्यों की रचना में नयी-नयी विधाओं का प्रयोग कवियों ने उत्कृष्ट काव्य की गरिमा को प्राप्त करने हेतु प्रारम्भ किया । इस प्रकार उत्कृष्ट काव्य के परीक्षण हेतु अनेक मत आचार्यों के मध्य उपस्थित हुए । कुछ अलङ्कार को शोभा हेतु मानने लगे किसी ने रीति को उत्कृष्टतम कहा और इसी प्रकार ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, औचित्य आदि को काव्य के परीक्षण में विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने आधारभूत सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया । काव्य-परीक्षण के शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' या 'काव्यालङ्कार' के रूप में जाना गया । इन काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा इतिहास में प्राप्त होती है । आचार्य भामह से मम्मट तक तथा आचार्य विश्वनाथ से विश्वेश्वर पण्डित तक एक प्रौढ़ काव्यालङ्कारशास्त्र की परम्परा प्राप्त होती है । इस परम्परा के अन्तर्गत अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, यथा-- 'नाट्यशास्त्र' (भरतमुनि), 'काव्यालङ्कार'(भामह), 'काव्यादर्श' (दण्डी) 'काव्यालङ्कारसूत्र (वामन), काव्यालङ्कार (रुद्रट), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) दृश्यदर्पण (भट्टनायक, दशरूपक (धनञ्जय), वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक), व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट), काव्यमीमांसा (राजशेखर), औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र), काव्यप्रकाश (मम्मट), अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), नाट्यदर्पण (रामचन्द्र गुणचन्द्र) चन्द्रालोक (जयदेव), एकावली (विद्याधर), साहित्यदर्पण (विश्वनाथ), भवप्रकाशन (शारदातनय), रसगङ्गाधर (पण्डितराजजगन्नाथ) अलङ्कारकौस्तुभ (विश्वेश्वर-पण्डित) आदि प्रमुख हैं । आचार्यों की दृष्टि से काव्य के जो तत्त्व उत्कृष्ट लगे, उन्हीं के नाम पर तत्तद् आचार्यों के सम्प्रदाय की कल्पना की गयी और उन्हें उनका प्रवर्तक माना गया । जैसे भरतमुनि का रस सम्प्रदाय, भामह का अलङ्कार सम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसम्प्रदाय, महिमभट्ट का अनुमिति सम्प्रदाय तथा क्षेमेन्द्र का औचित्यसम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार काव्यशास्त्र के इतिहास में सहस्रों वर्षों के अन्तराल में सम्प्रदायों के उदयास्त, ग्रन्थ, ग्रन्थान्तर, टीका तथा खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया चलती रही । प्रायः अधिकतर आचार्यों ने रस, अलङ्कार तथा ध्वनि का ही समर्थन किया है । ध्वनि कहने से रस-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि तथा वस्तुपरक चित्रण में वस्तु-ध्वनि का ग्रहण हो जाने से प्रायः आचार्य ध्वनि-सम्प्रदाय के पक्ष में ही देखे जाते हैं । आचार्य मम्मट, अभिनवगुप्त, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी आनन्दवर्धन की ध्वनि का ही अन्ततोगत्वा अनुसरण करते हैं और ध्वनिकार के वचन को प्रमाण मानते हैं ।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ

आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का अनुसरण करने वाले आचार्य विश्वनाथ 'कविराज' की उपाधि से विभूषित हैं। इनका जन्म एक प्रतिष्ठित तथा विद्वान् ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आचार्य श्री विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह का नाम नारायण था तथा उन्होंने काव्यशास्त्र विषयक किसी ग्रन्थ की रचना की थी, जैसा कि साहित्यदर्पण में स्वयं कविराज ने लिखा है– "तत्प्रवणत्वं चाऽस्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीवरिष्ठकविपण्डितमुख्य श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।"[१]

परन्तु 'काव्यप्रकाश' की 'दर्पण' टीका में विश्वनाथ ने नारायण को अपना पितामह बतलाया है– 'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः......अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदासपादाः।[२]'

यह एक सन्दिग्ध बात विश्वनाथ ने कही है। परन्तु यह भी हो सकता है कि 'नारायण' जो वृद्धप्रपितामह थे उन्हें शब्दलाघव से पितामह कह दिया गया हो। दूसरी बात यह है कि वृद्धप्रपितामह के नाम पर ही उनके पौत्र (पितामह) का नाम नारायणदास रख दिया गया है। इस प्रकार इन दोनों तथ्यों का समन्वय सम्भव है।

आचार्य विश्वनाथ के पिता का नाम चन्द्रशेखर था, जो कवि तथा विद्वान् थे। आचार्य विश्वनाथ ने अपने पिता का नाम सुस्पष्टरूपेण साहित्यदर्पण के अन्तिम श्लोक में उद्धृत किया है–

> **'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-**
> **श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।**
> **साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य**
> **साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥'[३]**

अपने पिता की दो रचनाओं 'पुष्पमाला' तथा 'भाषार्णव' का उल्लेख भी आचार्य विश्वनाथ करते हैं, जिससे उनका कवि तथा भाषा-मर्मज्ञ होना प्रमाणित होता है। विश्वनाथ ने अपनी 'काव्यप्रकाशदर्पण' टीका में संस्कृत के कतिपय शब्दों के उड़िया पर्यायवाची शब्द दिये हैं जिससे प्रतीत होता है कि वे उड़ीसा के निवासी रहे होंगे। साहित्यदर्पण के परिच्छेदों की पुष्पिका में 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य', 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' तथा 'सान्धिविग्रहिकमहापात्र' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे विश्वनाथ को कलिङ्ग राजा के 'सान्धिविग्रहिक' पद पर

---

१. *साहित्यदर्पण ३/२०३*
२. *काव्यप्रकाशभूमिका, पृ० २१ (वा०)*
३. *साहित्यदर्पण १०/६६*

आसीन होना सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रस्थापक तथा अट्ठारह भाषाओं के जानकार के रूप में आचार्य विश्वनाथ को प्रतिष्ठापित करना अनुचित नहीं होगा । काव्य प्रकाश के टीकाकार चण्डीदास भी आचार्य विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे जैसा कि साहित्यदर्पण में उल्लेख आया है–

"अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना ।[1]"

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ को परम्परागत विद्वत्ता प्राप्त थी और अनेक ग्रन्थों के प्रणयन में अपनी मौलिक दृष्टि का सन्निपात आचार्य जी की विशेषता रही है ।

श्रीविश्वनाथ के कालनिर्धारण में अन्तः साक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर समय का निर्धारण कदाचित्, सरलतापूर्वक किया जा सकता है । आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के श्लोकों का समुद्धरण किया है । कतिपय अन्तः तथा वहिः साक्ष्य यही समुल्लिखित हैं जो साहित्यदर्पणकार के काल-निर्धारण में प्रमाण हो सकते हैं–

१. जयदेव के 'गीतगोविन्द'[2] से तथा जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव'[3] से एक-एक श्लोक का उद्धरण आचार्य विश्वनाथ ने दिया है । जयदेव का समय १२०० से १२५० ई० के मध्य माना जाता है ।

२. विश्वनाथ ने श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्'[4] से श्लोक, उद्धृत किये हैं । सन् ११६७ से ११७४ के मध्य 'नैषधीयचरितम्' रचा गया होगा, ऐसा विद्वानों का मत है ।

३. साहित्यदर्पण में अलङ्कारों के विवेचन में आचार रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्वम्' का अत्यधिक उपयोग किया गया है ।

४. साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती मम्मट, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट आदि काव्यशास्त्रियों के मत का यथास्थान उल्लेख किया है ।

५. साहित्यदर्पण में सम्मुलिखित धर्मदत्त[5] विश्वनाथ के पितामह अथवा प्रपितामह नारायण

---

१. *साहित्यदर्पण ७/३१*

२. *'हृदि विसलताहारो नायं० इत्यादि-साहित्यदर्पण– पृ० ५३८*

३. *'कदली-कदली करभःकरभः० इत्यादि-साहित्यदर्पण– पृ० २०८*

४. *'धन्यासि वैदर्भि गुणै०' इत्यादि साहित्यदर्पण पृ०- ५५४ 'हनूमदाद्यैर्यशसा०' इत्यादि साहित्यदर्पण पृ० ५६०*

५. *'तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थेरसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयपये । तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः । तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।।"*

–(साहित्यदर्पम ३/३, प० ७८)

के समकाली थे । कलिङ्ग के राजा नरसिंह की राजसभा में नारायण ने धर्मदत्त को पराजित किया था । नारायण का आश्रयदाता राजा नरसिंह द्वितीय रहा होगा जिसका राज्य-काल १२७० से १३०३ के मध्य माना जाता है ।

६. साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति जम्मू में प्राप्त हुई है जिसका लेखनकाल विक्रमीसंवत् १४४० (१३८४ ई०) है ।[१] इससे प्रमाणित होता है कि सन् १३८४ ई० से पूर्व ही साहित्यदर्पण की रचना की गयी होगी ।

७. आचार्य विश्वनाथ ने अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख एक श्लोक में इस प्रकार किया है--

"सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राण निग्रहः ।
अलावद्दीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ।।"[२]

अलाउद्दीन का समय भी १२९६ से १३१६ ई० के मध्य स्वीकृत किया गया है । आचार्य ने एक स्थान पर कदाचित् 'सुलतान' के लिए 'सुरत्राण'[३] ऐसे संस्कृत शब्द का प्रयोग भी किया है।

८. प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी ने 'प्रतापरुद्रीय' की 'रत्नारुपण' टीका में साहित्यदर्पण का दो बार उल्लेख किया है ।[४] इनका समय पन्द्रहवी शताब्दी माना जाता है ।

९. 'काव्यप्रकाश प्रदीप' में गोविन्द ठक्कुर ने काव्यलक्षण पर आचार्य विश्वनाथ कृत आलोचना तथा उनके काव्यलक्षण को उद्धृत किया है ।[५] गोविन्द ठक्कुर का समय १६०० ई० से पूर्व माना जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर साहित्यदर्पण-प्रणेता आचार्य विश्वनाथ का समय १३०० से १३८० के मध्य रहा होगा और साहित्य दर्पण की रचना इसी कालावधि में हुई होगी, ऐसा सप्रमाण कहा जा सकता है ।

आचार्य विश्वनाथ की कृतियाँ

साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ केवल काव्यशास्त्र के ही मर्मज्ञ नहीं थे अपितु उनमें कवि प्रतिभा भी विद्यमान थी । अतएव उनके द्वारा रचित अधोलिखित काव्य, नाट्य तथा काव्यशास्त्रीय कृतियों के सप्रमाण उल्लेख प्राप्त होते हैं--

---

१. *संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास पी० वी० काणे, पृ० ३७०*
२. *साहित्यदर्पण- पृ २४४*
३. *साहित्यदर्पण पृ० ५४०*
४. *प्रतापरुद्रयशोभूषण (रत्नापण टीका) पृ० १४५, २४८*
५. *काव्यप्रकाशप्रदीप-- पृ० १३*

(क) **राघवविलास**[१]-- यह संस्कृत भाषा में लिखा गया महाकाव्य है ।

(ख) **कुवलयाश्वचरित**[२]-- यह प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य है ।

(ग) **प्रभावतीपरिणयनाटिका**[३]-- यह संस्कृत भाषा में रचित एक नाटिका है ।

(घ) **चन्द्रकलानाटिका**[४]-- यह भी एक नाटिका है ।

(ङ) **प्रशस्तिरत्नावली**[५]-- यह १६ भाषाओं का करम्भक है ।

(च) **काव्यप्रकाशदर्पण**[६]-- यह मम्मट के काव्य प्रकाश पर एक टीका है ।

(छ) **नरसिंहविजय**[७]-- यह एक काव्य ग्रन्थ है ।

(ज) **साहित्यदर्पण**[८]-- यह काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ है । भाषा की सरलता तथा बोध गम्यता के कारण सर्वोत्कृष्ट रचना कही जा सकती है । आचार्य विश्वनाथ को इस ग्रन्थ के कारण ही अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है ।

साहित्यदर्पण और उसकी विशेषताएँ

आचार्य विश्वनाथ का सबसे प्रसिद्ध तथा मुख्य ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है । यह काव्यशास्त्र का सरल और बोधगम्य ग्रन्थ माना जाता है । आचार्य मम्मट का ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' यद्यपि अत्यधिक उपादेय है, किन्तु कोमल मति वाले छात्रों के लिए यह बोधगम्य नहीं है । इसके अतिरिक्त 'काव्य प्रकाश में' नाट्य-विषयक सामग्री का अभाव है । ऐसी स्थिति में विश्वनाथ का साहित्यदर्पण छात्रों को एक काव्यशास्त्रीय तथा नाट्यशास्त्रीय दोनों तरह की दृष्टियाँ प्रदान कर सकता है । 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' की रचना की, यह बात कई स्रोतों से प्रमाणितहोती है । 'काव्यप्रकाश' में जैसे दश उल्लास हैं उसी प्रकार 'साहित्यदर्पण' में भी दश परिच्छेद हैं । प्रत्येक परिच्छेद की विषयवस्तु अधोलिखित है--

---

१. *साहित्य दर्पण ३/२२५*

२. *वही ३/१४८*

३. *वही ३/५८*

४. *वही ३/६६*

५. *वही ६/३३७*

६. *काव्यप्रकाशभूमिका पृ० २५ (वा०)*

७. *संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पी० वी० काणे) पृ ३६६*

८. *'साहित्यदर्पण अनेक स्थानों से प्रकाशित है ।*

१. **प्रथम परिच्छेद**-- प्रथम परिच्छेद में काव्य का प्रयोजन लक्षण आदि उद्धृत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ ने मम्मटकृत काव्य लक्षण का खण्डन भी किया है ।

२. **द्वितीय परिच्छेद**-- इस परिच्छेद में वाक्य और पद का लक्षण तथा अभिधा लक्षणा, व्यञ्जना आदि शब्द शक्तियों का विस्तृत विवेचन है ।

३. **तृतीय परिच्छेद**-- इस परिच्छेद में रसनिष्पत्ति का बोधगम्य शैली में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त नायक-नायिका का भी वर्णन साङ्गोपाङ्ग है ।

४. **चतुर्थपरिच्छेद**-- चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनिकाव्य, गुणभूतव्यङ्ग्यकाव्य आदि के भेद सोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।

५. **पञ्चम परिच्छेद**-- इस परिच्छेद में ध्वनि सिद्धान्त (व्यञ्जना वृत्ति) के विरोधी मतों का खण्डन युक्ति-पूर्ण ढंग से करके व्यञ्जना-वृत्ति की स्थापना की गयी है ।

६. **षष्ठ परिच्छेद**-- यह परिच्छेद अत्यधिक विस्तृत है । आचार्य विश्वनाथ ने इसमें काव्य के दृश्य-श्रव्य भेदों निरूपण करके दृश्य काव्य, रूपक के भेद, वृत्ति, अर्थोपक्षेपक, नाट्यसन्धियाँ तथा अनेक अंङ्गों तथा सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त नाटिका, सट्टक, त्रोटक, आदि उपरुपकों का लक्षण, महाकाव्य, गद्यकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि विषयों का भी विवेचन किया है ।

७. **सप्तम परिच्छेद**-- कविराज ने इस परिच्छेद में काव्यगत दोषों का सुविस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । पद-दोष, पदांशदोष, अर्थदोष, वाक्यदोष तथा रस दोषों के सभी आयामों का वर्णन यहीं प्राप्त होता है ।

८. **अष्टम परिच्छेद**-- इस परिच्छेद में काव्य के उत्कर्ष-विधायक गुणों की चर्चा की गयी है। माधुर्य, ओज प्रसाद इन तीन गुणों में ही वामन के दश शब्दगत तथा दश अर्थगत गुणों का अन्तर्भाव भी दिखलाया गया है ।

९. **नवम परिच्छेद**-- नवम परिच्छेद में वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली लाटी रीतियों का वर्णन उपलब्ध है ।

१०. **दशम-परिच्छेद**-- इस परिच्छेद में अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों तथा उपमादि अर्थालङ्कारों और उनके भेदों का विशद विवेचन सोदाहरण किया गया है ।

उपर्युक्त विषय-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'साहित्यदर्पण' विद्यार्थी को काव्य तथा नाट्य सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री देने में समर्थ है । 'साहित्यदर्पण' की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, प्रवाह-पूर्ण और बोधगम्य भाषा शैली है, जिससे निम्न स्तर का छात्र भी सहजरूपेण संस्कृत काव्यशास्त्र को हृदयङ्गम कर सकता है ।

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय मानते हैं कि 'साहित्यदर्पण मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया एक सङ्ग्रह ग्रन्थ है ।'[१] वास्तव में देखा जाये तो 'साहित्यदर्पण' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अत्यधिक ऋणी है और अलङ्कारों का विवेचन रुय्यक के 'अलङ्कार-सर्वस्व' के आधार पर किया गया है । यहाँ तक कि आचार्य विश्वनाथ ने उदाहरणों को भी पृथक् से खोजने का प्रयत्न नहीं किया है । अधिकतर उदारण भी काव्यप्रकाश-अलङ्कार-सर्वस्व, ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों से ही उद्धृत कर दिये हैं ।

उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय मौलिक गुणों का अभाव होने पर भी यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश के बाद अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है । भाषा-सारल्य तथा समझने में जटिलता न होने से यह छात्रों की कोमल मति में सुष्ठुतया काव्यशास्त्रीय रसधारा प्रवाहित करने में सर्वथा समर्थ रहा है । इसमें नाट्य और काव्य दोनों की सामग्री सन्निहित है तथा उदारण भी रोचक, ललित और चित्ताकर्षक हैं । अतः छात्र को साहित्यशास्त्र की समग्र दृष्टि इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है तथा काव्यशास्त्र में प्रारम्भिक प्रवेश हेतु ग्रन्थ की उपादेयता का निषेध नहीं किया जा सकता है ।

साहित्यदर्पण की कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हैं, यथा-- परम्परागत भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का तिरस्कार करके 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[२] यह काव्य लक्षण दिया गया है । रस के भेद में वात्सल्य रस की स्थापना करके दश रसों की कल्पना की गयी है । काव्य (महाकाव्य) के नायक के जीवन के एक देशीय वर्णन परक काव्य को 'खण्डकाव्य' की सञ्ज्ञा प्रदान करना-- "खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारिच ।"[३] चित्रकाव्य की सत्ता को स्वीकार न करने से केवल काव्य के 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' भेद ही साहित्यदर्पणकार को अभीष्ट हैं । रसास्वादन के सम्बन्ध में विश्वनाथ 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः'[४] यह वाक्य उद्धृत करते हैं जो किञ्चित्परम्परागत रस-सिद्धान्त से भिन्न प्रतीत होता है । इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सट्टक आदि उपरूपकों का वर्णन भले ही मौलिक न हो, परन्तु विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र में 'धर्मदत्त', 'नारायणदास', 'भट्टनायक' आदि आचार्यों के श्लोकों के उद्धरण दिये गये हैं । आज इन आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, दर्पणकार के उद्धरणों से उनके सिद्धान्तों का आकलन किया जा सकता है । साहित्यदर्पण में उदाहरण-हेतु कतिपय ऐसे

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (आचार्य बलदेव उपाध्याय) पृ० १३१
२. साहित्यदर्पण १/२
३. साहित्यदर्पण ६/३२६
४. साहित्यदर्पण ३/३

ग्रन्थों के श्लोक भी आये हैं जो अब उपलब्ध नहीं हैं तथा अन्यत्र भी अनेक उद्धरण प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार शोध की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ परमोपादेय हो सकता है और काव्यशास्त्रीय अनुसन्धान में एक मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इन दृष्टियों से इस ग्रन्थ का महत्त्व अक्षुण्ण है।

संस्कृत टीकाओं की दृष्टि से साहित्यदर्पण प्रायः समृद्ध दृष्टिगत होता है। इस ग्रन्थ की पाँच संस्कृत टीकाएँ प्राप्त होती हैं। साहित्यदर्पण पर महेश्वरभट्ट की ''विज्ञप्रिया' टीका विस्तृत तथा शास्त्रीय है। विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास के द्वारा विरचित 'लोचन' टीका भी संक्षिप्त होते हुए विद्वत्तापूर्ण है। इन दोनों टीकाओं के साथ 'साहित्यदर्पण' मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'लक्ष्मी' नामक संस्कृत टीका के साथ भी साहित्यदर्पण काशी ग्रन्थमाला से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त रामचरण तर्कवागीश कृत संस्कृत टीका (विवृति) भी निर्णय सागर से प्रकाशित हुई है। अभी इसका पुनर्मुद्रण भी 'मेहर चन्द्र लछमन दास' नई दिल्ली के द्वारा किया गया है। इसमें पाण्डित्य का अभाव, सरलता तथा सुबोधता है। अतः छात्रों के लिए उपयोगी है। इसके अतिरिक्त गोपीनाथ की 'प्रभा' तथा मथुरानाथ शुक्ल की संस्कृत टीका साहित्यदर्पण पर प्राप्त होती है। हिन्दी टीका के साथ भी साहित्यदर्पण के कई संस्करण निकल चुके हैं, जिनमें स्व० पं० शालग्रामशास्त्री की 'विमला' तथा स्व० डॉ० सत्यव्रत सिंह के द्वारा लिखित हिन्दी टीकाएँ श्रेष्ठ हैं।

साहित्य-दर्पण मौलिक ग्रन्थ जैसी प्रतिष्ठा को भले ही प्राप्त न कर सका हो परन्तु साहित्य को प्रतिबिम्बित करने में दर्पण का कार्य करने वाला यह ग्रन्थ शताब्दियों से पढ़ाया जा रहा है। यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि इसमें कुछ तत्त्व ऐसे अवश्य हैं, जो काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान में परम सहायक हो जाते हैं, यही कदाचित् सादित्यदर्पण की अपनी निजी विशेषता है। संक्षेप में अधोलिखित श्लोक के द्वारा साहित्य दर्पण के महत्त्व का प्रख्यापन किया जा सकता है–

'एष साहित्यमातङ्गो दुर्गाह्योऽतिमहत्तरः।
मुष्टिमेय इवाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बितः॥'

***

साहित्यदर्पणसङ्ग्रहः

प्रथमो विन्यासः

प्रथमपरिच्छेदः

१— सरस्वतीस्तुतिः

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।

अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु ॥१॥

वह सरस्वती जो शरद् ऋतु के चन्द्रमा की शुभ्र चन्द्रिका के समान, कान्ति वाली हैं, मेरे मन में व्याप्त अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करे और उसमें (काव्य-साहित्य विषयक) सभी तत्त्वों को प्रकाशित करें ।

२— काव्यप्रयोजननिरूपणम्

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥२॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्, इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' इति ।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वाच्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?

काव्य से ही चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति, बिना किसी आयास के, साधारण बुद्धि वाले लोगों को भी हुआ करती है; इसलिए उसके स्वरूप का विचार किया जा रहा है ।

'राम इत्यादि की भाँति आचरण करना चाहिए, रावण आदि की भाँति आचरण नहीं करना चाहिए'— इस रूप से, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रति प्रवृत्त और अप्रवृत्त होने के उपदेश के द्वारा, काव्य से चतुर्वर्ग अथवा पुरुषार्थचतुष्टय का जैसा फल मिलता है वह वस्तुतः सर्वविदित है । इसीलिए कहा भी गया है—

'सत्काव्य का सेवन (अथवा पढ़ना) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में तथा सभी कलाओं के विषय में व्युत्पत्ति प्रदान करता है, यश उत्पन्न करता है और आनन्द देता है।'

वैसे तो चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति वेद और शास्त्र से होती है, किन्तु वेद और शास्त्र के नीरस होने के कारण, यह बड़े दुःख से होती है और उन्हीं लोगों के लिये सम्भव है जो परिणत बुद्धि अथवा परिपक्व ज्ञान वाले हुआ करते हैं। किन्तु परमानन्द संदोह के जनक होने के कारण, काव्य से जो चतुर्वर्ग रूप फल की प्राप्ति होती है वह बिना कष्ट के होती है, और सुकुमार बुद्धि अथवा कोमल मतिवाले लोगों को भी होती है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि वेद और शास्त्र के रहते, परिपक्व बुद्धि वाले लोग, काव्य के प्रति प्रयत्नशील क्यों हों? वह रोग जो कि कड़वी दवा के सेवन से शान्त होता है यदि मीठी मिश्री-सी दवा से दूर हो जाय तो भला कौन ऐसा रोगी होगा जिसकी मीठी मिश्री-सी दवा के प्रति प्रवृत्ति अच्छी न मानी जायेगी।

३— काव्यस्वरूपविवेकः

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥३॥

रसस्वरूप-निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते।

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

अब 'काव्य' क्या है? इसका विचार किया जा रहा है—

रसात्मक वाक्य को 'काव्य' कहते हैं। इसके अपकर्षकारक 'दोष' कहे जाते हैं और इसके जो उत्कर्षकारक हैं उन्हें 'गुण', 'अलङ्कार' और रीति कहा जाता है।

रस के स्वरूप का विचार आगे किया जायगा। रसात्मक वाक्य वह हुआ करता है जिसका वस्तुतः आत्मभूत अथवा साररूप होने के कारण जीवनाधायक तत्त्व 'रस' है। क्योंकि 'रस' के न रहने पर वह वाक्य 'काव्य' नहीं माना जा सकता है।

'श्रुतिदुष्टत्व', 'अपुष्टार्थत्व आदि काणत्व और खञ्जत्व (काना होने और लंगड़ा होने) की भाँति है और जैसे काणत्व और खञ्जत्व शरीर में अपकृष्टता उत्पन्न करते हुये आत्मा को भी अपकृष्ट बना देते हैं वैसे ही श्रुतिदुष्टत्व और अपुष्टार्थत्व शब्द और अर्थ को अपकृष्ट बनाते हुये काव्य के सारभूत रस के भी अपकर्षक हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यभिचारी भाव (जैसे कि निर्वेद, ग्लानि, स्मृति) आदि के वाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन आदि को मूर्खता (कायरता) आदि की भाँति माना जाता है और जैसे मूर्खता आदि से साक्षात् आत्मतत्त्व में अपकर्ष आ जाता है वैसे ही व्यभिचारी भाव आदि के 'स्वशब्दवाच्यत्व' आदि के द्वारा साक्षात् काव्य के आत्मभूत रस में अपकर्ष हो जाना स्वभाविक है। इसीलिए इन दोषों को काव्य का अपकर्षकारक कहा जाता है।

(काव्य के) गुण (मनुष्य के) शौर्य आदि की भाँति हैं, (काव्य के) अलङ्कार (मनुष्य शरीर के) कटक, कुण्डल आदि आभूषण सदृश हैं और (काव्य की रीतियाँ) मनुष्य शरीर के अङ्गविन्यास विशेष-सी हुआ करती है। इन्हें काव्य का उत्कर्षकारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये (मनुष्य के) शरीर की भाँति शब्द और अर्थ (रूप काव्य-शरीर) को उत्कृष्ट बनाते हुए काव्य के आत्मभूत रस को भी उत्कृष्ट बनाया करते हैं।

***

द्वितीयपरिच्छेदः

१— वाक्यविचारः

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥१॥

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः । बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य 'देवदत्त' शब्दस्य दिनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात् ।

अब 'वाक्य' का स्वरूप बताया जा रहा है–

'वाक्य' वह पद-समुदाय है जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हुआ करता है । (योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त) वाक्य समुदाय को 'महावाक्य' कहते हैं । इस प्रकार वाक्य दो प्रकार के हैं ।

यहाँ 'योग्यता' कहते हैं पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा अथवा अनुपपत्ति के अभाव को। यदि इस 'योग्यता' के अभाव में भी पदसमूह को 'वाक्य' माना जाय तब 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींचता है) आदि पद-समूह भी 'वाक्य' माने जाने लगेंगे (किन्तु ऐसे पद-समूह को वाक्य नहीं माना जाया करता) । 'आकांक्षा' के बिना भी यदि पद-समूह वाक्य होने लगें तब 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गाय, घोड़ा, आदमी, हाथी) आदि पद समूह भी वाक्य माने जाने लगेंगे (किन्तु ऐसे पद समूह जिनमें प्रत्येक में श्रोता की प्रतीति पूर्ण हो जाती है वाक्य नहीं माने जाते) । 'आसत्ति' का अर्थ है बुद्धि अर्थात् पदार्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा रुकावट का न होना । यदि ऐसे पद-समूह को भी वाक्य माना जाने लगे जिनके अर्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा व्यवधान होता हो, तब तो इस समय बोले गये 'देवदत्तः' (देवदत्त) पद का दूसरे दिन बोले जाने वाले 'गच्छति' (जाता है) पद के साथ भी संबन्ध होना चाहिये (किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता) ।

२— पदविचारः

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह–

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

यथा घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्।

पहले कहा जा चुका है कि पदोच्चय अथवा पदसमूह 'वाक्य' है । अब 'पद' क्या है ? इसका विचार कर रहे हैं–

'पद' उन वर्णों को कहते हैं जो प्रयोग के योग्य तथा अनन्वित एक अर्थ के बोधक हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये 'घट' (घड़ा) यह वर्णसमूह 'पद है । यहाँ (कारिका में) 'प्रयोगार्ह इसलिये कहा गया जिससे 'प्रातिपदिक' (विभक्ति रहित) को पद न माना जाय, 'अनन्वित' इसलिए कहा गया जिससे (परस्पर सम्बद्ध अर्थ के बोधक) 'वाक्य' और महाकाव्य' को 'पद' न समझा जाने लगे, 'एक' इसलिए कहा गया जिससे परस्पर साकांक्ष अनेक 'पद और अनेक 'वाक्य' को पद से व्यवच्छिन्न किया जा सके और 'अर्थबोधक' इसलिये कहा गया जिससे क, च, ट, त, प आदि वर्णों को पद न माना जाने लगे । यहाँ 'वर्णाः में जो बहुवचन है वह विवक्षित नहीं है (अर्थात् प्रयोगयोग्य किंवा अनन्वित एक अर्थ का बोध कराने वाले, अनेक वर्ण ही 'पद' नहीं कहे जाते अपितु ऐसे एक अथवा दो वर्ण भी 'पद' ही माने जाते हैं जैसे कि प्रयोगयोग्य तथा दूसरे किसी पदार्थ से अनन्वित, एक अर्थ के बोधक 'घटः' ये दो वर्ण 'पद' हैं। ।

३-- अर्थविचारः ।

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्ययश्चेति त्रिधा मतः ॥२॥

एषां स्वरूपमाह--

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो
लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्यु-
स्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

४. अभिधा

तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा ।
सङ्केतो गृह्यते जातौ गुण्त-द्रव्य-कियासु च ॥४॥

५. लक्षणा

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रुढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥५॥

६. व्यञ्जना

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥६॥

इति साहित्यदर्पणसंङ्ग्रहे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

(पद विचार के प्रसंग में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग हो चुका है इसलिए 'अर्थ' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है)–

(अर्थ के तीन भेद है— (१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यङ्ग्य ।

इनका स्वरूप यह है–

(१) 'वाच्य' वह अर्थ हुआ करता है जो 'अभिधा' द्वारा बोधित हो, (२) 'लक्ष्य' अर्थ वह है जिसका ज्ञान 'लक्षणा' द्वारा होता है और (३) 'व्यङ्ग्य' वह अर्थ है जिसकी प्रतीति 'व्यञ्जना' द्वारा होती है । ये तीन अर्थात् अभिधा, लक्षण और व्यञ्जनाशब्द की शक्तियाँ कही जाती हैं ।

७. अभिधा

सङ्केतित अर्थ को बोध कराने के कारण प्रथम अभिधा शक्ति आती है । सङ्केत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रिया में होता है । यथा 'गोत्व' जाति, 'शुक्लत्व' गुण, डित्थ द्रव्य तथा 'चल' क्रिया है । इन्ही में सङ्केतग्रह होता है ॥

८. लक्षणा

मुख्य (अभिधेय) अर्थ के बाध होने पर तथा उस (मुख्य अर्थ) से युक्त (सम्बद्ध) रूढि अथवा प्रयोजन से अन्य अर्थ की प्रतीति जिस (शक्ति) से होती है वह (शब्द में) अर्पित (आरोपित) शक्ति लक्षणा है ।

९. व्यञ्जना

अभिधा आदि शक्तियों के विरत हो जाने पर जिसके द्वारा दूसरे अथ का बोध होता है, वह शब्द तथा अर्थ आदि की वृत्ति व्यञ्जना कही जाती है ।

***

तृतीयपरिच्छेदः

१— रसस्वरूप-विवेकः

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

> विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
> रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥१॥

विभावादयो वक्ष्यन्ते । सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात्र पृथगुक्ताः । व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः । न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते ।

(रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं— यह पहले परिच्छेद में बता चुके हैं ।) अब यह बताना आवश्यक है कि 'रस' क्या है—

सहृदयों के हृदय में विराजमान (वासना रूप में अवस्थित) 'रति' 'हास', 'शोक' आदि जो स्थायी भाव हैं वे ही विभाव, अनुभाव और संचारी (अथवा व्यभिचारी) भावों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर 'रस' रूप में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् आनन्द देने लगते हैं और इसी लिये 'रस' कहे जाते हैं) ।

('विभाव' आदि का निरूपण आगे किया जायगा ।) प्राचीन आचार्यों के अनुसार स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भाव भी रस की अभिव्यक्ति के हेतु माने गये हैं किन्तु यहाँ सात्त्विक भावों को रसाभिव्यक्ति के हेतु रूप में पृथक् नहीं गिनाया गया क्योंकि वस्तुतः अनुमान तुल्य ही हैं । 'व्यक्तः' का अभिप्राय यह है कि जैसे 'दही' आदि 'दूध' आदि का ही रूपान्तर परिणाम हैं वैसे ही 'रस' भी रत्यादि स्थायी भाव का ही अभिव्यक्त रूप है । ऐसा नहीं है कि जैसे पहले से अवस्थित 'घट' दीपक द्वारा प्रकाशित होता है वैसे 'रस' भी पहले से अवस्थित वस्तु है जिसे विभावादि प्रकाशित (अभिव्यक्त) कर दिया करते हैं ।

२— करुणादिरसानां रसत्वम्

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादित्युच्यते—

> करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
> सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥२॥

आदि शब्दाद्वीभत्सभयानकादयः ।

> किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

नहिं कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव ।

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।
हेतुत्वं शोकहर्षादिर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ॥३॥

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम् लौकिकाः ।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥४॥

सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ।
अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ॥५॥

('रस' आनन्दात्मक अनुभव है-- ऐसी स्थिति में) करुण आदि रस, जो कि दुःखमय प्रतीत होते हैं क्यों 'रस' कहे जा सकते है ? इस शङ्का का समाधान किया जा रहा है--

'करुण' आदि रसों में भी जो आनन्द मिलता है, उसमें एक प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदयों का अनुभव है ।

यहाँ ('करुणादी' में) 'आदि' शब्द के प्रयोग से (करुण के अतिरिक्त वीभत्स, भयानक आदि रसों का भी ग्रहण होता है ।

साथ ही साथ यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि 'करुण' आदि रसों में दुःख का अनुभव होता तो सहृदयजन करुणात्मक काव्य अथवा नाट्य के प्रति कभी भी उन्मुख न होते।

ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा जो स्वयं अपने दुःख के लिये लालायित हो ! किन्तु जैसा कि यह स्पष्ट देखा जाता है कि करुणादिरसात्मक काव्यनाट्य के प्रति सभी सहृदय बड़े मनोयोग से प्रवृत्त होते हैं, यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि करुणादि रस आनन्द रूप ही हुआ करते हैं ।

एक बात और भी है कि यदि करुण रस को दुःख रूप माना जाय तब (करुणात्मक) रामायण आदि महाकाव्य भी दुःखजनक ही माने जायेंगे ।

(किन्तु ऐसी बात नहीं क्योंकि) लोक-जीवन के संपर्क के कारण, भले ही लोक में, शोक और हर्ष आदि के जो भी कारण हों उनसे लौकिक शोक और हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करें, किन्तु जबकि काव्य (अथवा कला) के संबन्ध से, ये ही शोक और हर्ष आदि के कारण, काव्य में अलौकिक विभाव आदि के रूप में परिणत होकर आनन्द उत्पन्न करते हैं तो इसमें आपत्ति नहीं होती है ।

(यहाँ यह भी शङ्का हो सकती है कि जब कारण के अनुभव में आँसू गिरते हैं तब यह अनुभव आनन्दात्मक नहीं हो सकता ।) यहाँ वस्तुतः बात यह है कि ये आँसू दुःख के आँसू नहीं अपितु आनन्द के आँसू होते हैं क्योंकि करुण के प्रभाव में हृदय प्रसन्नता से द्रवित हो जाता है ।

३– विभाववर्णनम्

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥६॥

आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥७॥

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

लोक जीवन में (राम आदि के) रत्यादि भावों के उद्‌बोध के जो कारण हैं (जैसे सीता आदि), वे ही काव्य-नाट्य में 'विभाव' कहे जाते हैं (क्योंकि इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप से विराजमान रत्यादिभाव इस योग्य बनाये जाते हैं जिसमें उनसे आस्वाद मिल सके)। विभाव के दो भेद हैं– पहला आलम्बन विभाव और दूसरा उद्दीपन विभाव । इनमें नायक आदि (अर्थात् नायिका, प्रतिनायक आदि) को आलम्बन विभाव कहते हैं क्योंकि इन्हीं के आश्रय से रस का उद्‌भव होता है । और 'उद्दीपन' विभाव वे हैं जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं । 'उद्दीपन' विभाव में आलम्बन अर्थात् नायक-नायिका आदि की चेष्टा में उचित स्थान तथा उपयुक्त समय आदि (अर्थात् चन्द्रमा, चांदनी, कोयल की वाणी प्रभृति) अन्तर्भूत हैं ।

४– अनुभावनिरूपणम्

उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥८॥

यः खलु लोके सीताचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

लोक जीवन में, उन कारमों से उद्‌बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को बाहर प्रकाशित करने वाला किंवा उन्हीं रति आदि भावों का जो कार्य है वही काव्य-नाट्य में निवेशित होने पर 'अनुभाव' कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि लोक में सीता आदि आलम्बन कारण तथा चन्द्र-चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण से राम आदि के हृदय में उद्‌बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकट करने वाला, उन्हीं रत्यादि भावों का जो कार्य होता है वही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर 'अनुभाव' कहा जाता है ।

५— व्यभिचारिभाववर्णनम् ।

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥६॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

'व्यभिचारी' भाव वे हैं जो, विशेष रूप से अथवा सहायक रूप से, स्थायी भावों में डूबते-उतराते, सदा उन्हीं के साथ रहा करते हैं । ये व्यभिचारी भाव ३३ प्रकार के हैं ।

अभिप्राय यह है कि स्थिर रूप से रहने वाले रत्यादि स्थायी भावों से आविर्भूत होने किंवा इन्हीं में तिरोभूत होने के कारण, इनके सहायक रूप से रहने वाले 'निर्वेद' (आत्मावमानन) आदि भाव ऐसे हैं जो 'व्यभिचारी' (संचारी) भाव कहे जाया करते हैं ।

६— स्थायिभावाख्यानम् ।

अथ स्थायिभाव—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥१०॥

यदुक्तम्—

'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥

'स्थायी' भाव वह है जिसे, अनुकूल अथवा प्रतिकूल, कोई भी भाव दबा अथवा छिपा नहीं सकते और जो वास्तव रसास्वाद के अङ्कुर का कन्द है । इसीलिए ऐसा कहा गया है—

'स्थायी भाव ऐसा होता है जो कि माला के फूलों में सूत की भाँति अन्य सभी भावों में अनुगत रहा करता है और जिसे अन्य भाव दबाते नहीं, परिपुष्ट ही किया करते हैं ।

७— स्थायिभेद-तत्स्वरूपवर्णनम् ।

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताःशमोऽपि च ॥११॥

तत्र--

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते ॥१२॥

इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥१३॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु गणितं चित्तवैक्लव्यजं भयम् ॥१४॥

दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥१५॥

विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥१६॥

स्थायी भाव के भेद हैं--- १. रति, २. हास, ३. शोक ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा, ८. विस्मय और ९. शम । इनमें--

१. 'रति' वह स्थायी भाव है जिसे मन के अनुकूल वस्तु में मन का आह्लादित होना कहा जाता है।

२. 'हास' वह है जिसे किसी की बोल चाल, वेश-भूषा आदि की विकृतियों को देखकर चित्त का विकसित होना कहा जाता है ।

३. 'शोक' का अभिप्राय इष्टनाश आदि के कारण होने वाला चित्त का वैक्लव्य है ।

४. 'क्रोध' वह है जिसे प्रतिकूल अर्थात् शत्रुता आदि के रखने वाले के प्रति चित्त में तीक्ष्णता (कटुता) का उद्भव कहा जाता है ।

५. 'उत्साह' का अर्थ कार्यारम्भ के प्रति, चित्त में स्थिर संरम्भ अथवा दृढ़ आवेश है ।

६. किसी रौद्र अथवा भीषण वस्तु की शक्ति से उत्पन्न तथा चित्त को व्याकुल बनाने वाला भाव 'भय' कहा जाता है ।

७. 'जुगुप्सा' वह है जिसे किसी वस्तु के प्रति उसमें दोष-दर्शन आदि से उत्पन्न घृणा का भाव कहा जाता है ।

८. 'विस्मय' का अभिप्राय उन अलौकिक पदार्थों के देखने आदि से उत्पन्न चित्त का विस्तार है ।

९. 'शम' स्थायी भाव वीतराग होने की स्थिति में, अपने आप में रमण करने वाले (अन्तर्मुख)मन का एक सुख विशेष है ।

८- रसभेदाख्यानम् ।

श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टी रसाः शान्तस्तथा मतः ॥१७॥

इति साहित्यदर्पणसंग्रहे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

'रस' के नौ भेद हैं-- १. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत और ९. शान्त ।

***

चतुर्थपरिच्छेदः

१– काव्यभेदवर्णनम्

अथ काव्यभेदमाह–

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

काव्य के भेद बताते हैं–

'काव्य' के दो प्रकार हैं– पहला 'ध्वनि' काव्य और दूसरा 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य ।

२– ध्वनिकाव्यनिरूपणम्

तत्र–

वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥१॥

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

यथा– भ्रम धार्मिक ! विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।

गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय अथवा चमत्कारजनक हुआ करता है । यह काव्य 'उत्तम' काव्य कहा जाता है ।

'ध्वनि' शब्द की 'ध्वन्यतेऽस्मिन्' (जिसमें रमणीय अर्थ अभिव्यक्त होता है) इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है कि 'ध्वनि' काव्य उत्तम काव्य है क्योंकि इसी काव्य में वह अर्थ अभिव्यङ्ग्य होता है जो कि वाच्यार्थ से विशेष चमत्कारकारक हुआ करता है ।

जैसे– "हे धार्मिक ! निश्रब्ध होकर भ्रमण करो ! गोदावरी के कछारों के कुञ्ज में रहने वाले दृप्त दुर्दान्त) सिंहने आज उस लघु (काय) कुत्ते को मार डाला है ।"

यहाँ 'भ्रमण करो' इस वाच्य अर्थ की अपेक्षा निषेधपरक व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय चमत्कार होने से ध्वनि काव्य है ।

३– गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यनिरूपणम्

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्–

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

यथा— वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।

गृहकर्म व्यापृतायाः वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ।।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का स्वरूप बता रहे हैं—

दूसरे प्रकार का काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं लगा करता ।

यहाँ 'अपरम्' का अर्थ दूसरे प्रकार के 'काव्य' से है । वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की 'अनुत्तमता' का अभिप्राय व्यङ्ग्य अर्थ की (चमत्कार की दृष्टि से) 'न्यूनता' अथवा 'समानता' से है ।

यथा— "वेतस-लताकुञ्ज में उड़ते हुए पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई गृह कार्य में लगी हुई वधू के अङ्ग व्याकुल हो रहे हैं ।' यहाँ 'वेतसकुञ्ज में प्रविष्ट नायक' इस व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा नायिका का अङ्गावसादरूपी वाच्य अर्थ अधिक चमत्कारजनक है ।

अतः यही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है ।

४— चित्राख्यकाव्यनिर्देशः

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति । तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।'

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो नाम चतुर्थः परिच्छेदः ।

कुछ काव्य शास्त्र के आचार्य 'चित्र' नामक एक तीसरा काव्य-प्रकार भी मानते हैं । जैसा कि (काव्यप्रकाशकार मम्मट ने) कहा है—

'चित्र काव्य (शब्द-चित्र अथवा अर्थ-चित्र) वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहा करता । यह काव्य 'अवर' अथवा 'अधम' काव्य कहा जाता है ।

***

पञ्चमपरिच्छेदः

१— व्यञ्जनावृत्तिनिरूपणम्

अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥
सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥२॥

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

अब यह बात रहे हैं कि वह नयी 'वृत्ति' अथवा 'शक्ति' क्या है जिसे 'व्यञ्जना' कहा जाता है—

'जब अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा नाम की वृत्तियाँ या शक्तियाँ अपना अपना कार्य कर चुकती हैं तब एक चौथी वृत्ति का मानना अनिवार्य हो जाता है जिससे रस-भाव आदि का अवबोध हो सके । इस चौथी वृत्ति को ही काव्याचार्य लोग 'व्यञ्जना' वृत्ति कहा करते हैं । कुछ ऐसे भी काव्याचार्य हैं जो कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसे 'रसना' वृत्ति कहा करते हैं ।

***

षष्ठपरिच्छेदः

१— दृश्यश्रव्यकाव्यभेदवर्णनम्

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥१॥

काव्य 'दृश्य' और 'श्रव्य' रूप से पुनः दो प्रकार का माना जाता है । 'दृश्य' काव्य वह है जिसका अभिनय किया जाय । 'दृश्य' काव्य को ही 'रूपक' भी कहा करते हैं क्योंकि इसके अभिनय करने वालों में, अभिनेय राम आदि के स्वरूप का आरोप अथवा काल्पनिक अभेद दिखलाई देता है ।

२— दृश्यकाव्यप्रकारनिरूपणम्

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥२॥

रूपक दृश्य' काव्य के ये भेद हैं—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. व्यायोग, ५. समवकार, ६. डिम, ७. ईहामृग, ८. अङ्क, ९. वीथी १०. प्रहसन ।

३— नाटकस्वरूपाख्यानम्

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासर्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥३॥

सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥४॥

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥५॥

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥६॥

वहाँ—

'नाटक' वह रूपक है जिसका वृत्त अथवा कथानक प्रख्यात अर्थात् ऐतिहासिक घटना (रामायण तथा महाभारत) के आधार पर रचे होने के कारण प्रसिद्ध हुआ करता है, जिसमें पांचों संधियाँ पायी जाती हैं, जिसमें विविध प्राकर के विलास, ऐश्वर्य आदि नायक-गुणों का वर्णन रहा करता है, जिसमें सुख और दुःख का चित्रण हुआ करता है और जो विविध प्रकार के रसों और भावों से ओत-प्रोत रहा करता है । नाटक में पाँच से लेकर दस तक 'अङ्क' हुआ करते हैं । इसके 'नायक' के लिए प्रख्यात वंश का धीरोदात्त, प्रतापी राजर्षि होना अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य कोई महापुरुष होना अपेक्षित माना गया है । इसमें एक ही रस, चाहे वह 'शृङ्गार' हो या 'वीर' हो, अङ्गी अथवा प्रधान रहा करता है और अन्य रस अङ्ग अथवा अप्रधान रूपसे विराजमान रहते हैं। इसकी अन्तिम संधि अर्थात् 'निर्वहण' सन्धि में अद्भुत रस का संचार आवश्यक है ।

४— नाटकेऽङ्कस्वरूपनिर्णयः

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥७॥

नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥८॥
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ।

नाटक में 'अङ्क' ऐसा होना चाहिये जिसमें नायक के चरित का साक्षात्कार हो, रस-भाव का परिपाक हो, शब्द और अर्थ गूढ न हों, छोटे-छोटे समास-रहित (चूर्णक) गद्य-वाक्य हों, ऐसी कथा हो जो बहुत समय में न घटी हो, नायक संनिहित रहे, तीन या चार पात्र हों और अन्त में सभी पात्र रङ्गमञ्च से निकलते दिखाई दें ।

५— नाटकविधाने पूर्वरङ्गाङ्गभूतनान्दीवर्णनम्

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥९॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥१०॥

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति सञ्ज्ञिता ॥११॥

'नाट्य वस्तु' अर्थात् नाटक के अभिनय के पहले, नाट्यकला के विघ्नों की शान्ति के लिये नट-नर्तक लोग जो कुछ क्रिया-कलाप करते हैं वह सब 'पूर्वाङ्ग' कहा जाता है। वैसे तो इस 'पूर्वाङ्ग' के प्रत्याहार (वाद्य-यन्त्रों का रंगमंच पर रखना) आदि अनेकानेक अङ्ग हुआ करते हैं, रङ्गभूमि के विघ्नोपशमन के लिये, 'नान्दी' नामक अङ्ग अवश्य संपन्न होना चाहिये। 'नान्दी' वह है जिसके द्वारा देव, द्विज, नृप आदि की आशीर्वाद-गर्भित स्तुति की जाती है।

६-- नाटकविधाने प्रस्तावनावर्णनम्

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥१२॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वाकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥१३॥

जहाँ नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक, सूत्रधार के साथ विचित्र प्रकार से अपने-अपन कार्य से संबद्ध वार्तालाप किया करते हैं और उसके द्वारा प्रस्तुत वृत्त आदि की सूक्ष्म सूचना दे दी जाती है, उसे 'आमुख' या प्रस्तावना कहते हैं।

७--- नाटके वस्तुद्वैविध्यम्

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ॥१४॥
अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥१५॥
अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

(प्रस्तावना' के बाद नाटक में) जो नाट्य वस्तु प्रयुक्त होती है वह दो प्रकार की बतायी गयी है-- पहली आधिकारिक और दूसरी प्रासङ्गिक। 'अधिकार' का [illegible] फल का स्वामित्व है और 'अधिकारी' वह है जो इस फल का स्वामी हुआ करता है। इस प्रकार, इस अधिकारी पुरुष (नायक) से संबद्ध जो 'इतिवृत्त' होता है वह 'आधिकारिक' कहा जाता है और इसके उपकरण भूत अथवा सहायक इतिवृत्त को 'प्रासङ्गिक कहा जाता है।

८— नाटकेऽर्थोपक्षेपकयोजनप्रयोजनम्

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च सम्मता ।
या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥१६॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

नाटक में 'अर्थोपक्षेपक' वह है जिसके द्वारा नाटककार ऐसी कथा की सूचना दिया करता है जो कि 'अङ्क' में प्रदर्शन के योग्य नहीं होती किन्तु जिसकी सूचना आवश्यक होती है अथवा जिसके घटित होने में दो दिन से लेकर एक वर्ष तक का समय लग जाता है अथवा जोकि बहुत विस्तृत हुआ करती है ।

९— अर्थोपक्षेपकेषु विष्कम्भकप्रवेशकौ

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥१७॥

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥१८॥

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥१९॥

(पांच प्रकार के जो 'अर्थोपक्षेपक' होते हैं उनमें) 'विष्कम्भक' वह है जो कि बीते हुये और आगे आने वाले कथांशों का सूचक तथा कथानक को संक्षेपक हो । यह 'अङ्क' के आरम्भ में ही होता है । इसके दो प्रकार हैं-- पहला 'शुद्ध' विष्कम्भक, जिसमें एक मध्यम पात्र या दो माध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है, और दूसरा 'सङ्कीर्ण' अथवा 'मिश्र' विष्कम्भक, जिसमें नीच और मध्यम पात्र-- दोनों प्रयुक्त होते हैं । 'प्रवेशक' वह है जिसका प्रयोग नीच पात्रों द्वारा होता है, जिसमें उक्तियाँ बहुत उत्तम नहीं होतीं और जो दो अङ्कों के समान बीच में रहा करता है । इसमें और बातें (जैसे कि भूत और भावी कथाशों-की सूचना आदि) 'विष्कम्भक' के समान ही होती हैं । प्रवेशक में प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है ।

१०— नाटके संधिवर्णनम्

यथासङ्ख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च संधयः ॥२०॥

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ।
मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥२१॥
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः....................॥

आरम्भ, यत्न, प्रास्याशा, नियताप्ति और फलागम की पांच अवस्थाओं के संबन्ध से नाटक के इतिवृत्त के जो पांच भाग होते हैं उन्हें ही क्रमशः 'पांच संधियाँ' कहा जाता है । 'सन्धि' एक उद्देश्य से समन्वित नाटकीय विषयों के पारस्परिक अवान्तर संबन्ध को कहते हैं । इसके पांच भेद होते हैं-- १. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श और ५. उपसंहृति अथवा निर्वहण ।

११-- नाट्योक्तिनिरूपणम् ॥

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥२२॥

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥२३॥

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥२४॥

नाट्य में 'स्वगतम्' का अर्थ ऐसी बात होती है जो कि दूसरे को सुनाने योग्य नहीं होती है । 'प्रकाशम्' का अर्थ ऐसी बात है जो कि सभी को सुनने योग्य हो । किसी एक पात्र से छिपा कर, दूसरे पात्र की ओर मुड़ कर, कही गयी बात को 'अपवारितम्' कहते हैं । कथानक के बीच में, 'त्रिपताक' नामक हाथ की मुद्रा से, दूसरों को मानो न सुनाना चाहते हुये, दो पात्रों का परस्पर वार्तालाप 'जनान्तिकम्' कहा जाता है । बिना किसी दूसरे पात्र के, बिना किसी बात के कहे भी मानो उसे सुनते हुये से 'क्या कहा' ऐसा कह कर, किसी पात्र का जो कथनोपकथन होता है वह 'आकाशभाषित' कहलाता है ।

१२-- श्रव्यकाव्यवर्णनम्

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥

'श्रव्य' वह काव्य है जो केवल सुना जाता है (न कि अभिनय द्वारा दिखाया जाता है) । यह दो प्रकार का होता है-- पहला पद्य काव्य और दूसरा गद्य काव्य ।

१३— महाकाव्यम्

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥२५॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥२६॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥२७॥

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥२८॥

यथा— रघुवंशशिशुपालवधनैषधादयः ।

वह काव्य जो सर्गों में रचा हुआ होता है 'महाकाव्य' कहलाता है । 'महाकाव्य' के लिये यह आवश्यक है कि उसमें एक ही नायक हो जो धीरता और उदात्तता के गुणों से विशिष्ट हो और वह या तो देव विशेष हो या उच्चवंश का क्षत्रिय हो । इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक ही रस अङ्गी अथवा प्रधान रूप से और अन्य रस अङ्ग अथवा अप्रधान रूप से हों तथा इसमें सभी नाटक-संधिया भी रहें । इसका कथानक ऐतिहासिक होता है या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के जीवन से संबद्ध होता है । इसमें धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष— इस पुरुषार्थचतुष्ट में से कोई एक अन्तिम फल के रूप में रहा करता है । इसके सर्ग ऐसे होते हैं जिनमें प्रत्येक में कोई एक छन्द प्रयुक्त होता है और अन्त में दूसरा छन्द रहता है, न बहुत छोटे और न बहुत बड़े, आठ से अधिक सर्ग होते हैं । उदाहरण के लिये— रघुवंश, शिशुपालवध, नैषधीयचरित आदि महाकाव्य ।

१४— खण्डकाव्यम्

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा— मेघदूतादिः ।

'खण्डकाव्य' वह है जो कि काव्य के एक अंश का अनुसरण किया करता है । जैसे कि 'मेघदूत' आदि ।

१५— गद्यवर्णनम्

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥२९॥
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥३०॥

अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

'गद्य' वह है जो की वृत्तरचना के नियमों में नहीं बंधा होता । इसके चार भेद होते हैं-- पहला मुक्तक, दूसरा वृत्तगन्धि, तीसरा उत्कलिकाप्राय और चौथा चूर्णक । इसमें पहला (मुक्तक) वह है जिसमें समस्त पद नहीं रहा करते दूसरा (वृत्तगन्धि) वह, जिसमें वृत्तों के टुकड़े मिला करते हैं, तीसरा (उत्कलिकाप्राय) वह, जिसमें लम्बे लम्बे समस्त पद रहा करते हैं और चौथा (चूर्णक) वह, जिसमें छोटे छोटे समस्त पद प्रयुक्त हुआ करते हैं ।

१६. गद्यकाव्यभेदेषु कथावर्णनम्

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥३१॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥३२॥

यथा-- कादम्बर्यादिः ।

'कथा' वह गद्यकाव्य है जिसकी सरस वस्तु-रचना गद्य में की जाती है । इसमें कहीं कहीं 'आर्या' छन्द और कहीं कहीं 'वक्त्र' अथवा 'अपवक्त्र' छन्द भी प्रयुक्त होते हैं । इसके आरम्भ में पद्य द्वारा ईश्वर अथवा देव विशेष की स्तुति हुआ करती है और साथ ही साथ असाधु तथा साधु जन के स्वभाव का भी वर्णन रहा करता है ।

उदाहरण के लिये-- 'कादम्बरी' आदि ।

१७-- तत्राख्यायिकावर्णनम्

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।

अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥३३॥

कथांशानां व्यच्छेद आश्वास इति कथ्यते ।

आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥३४॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् । ।

यथा-- हर्षचरितादिः ।

'आख्यायिका' भी कथा की भाँति ही गद्य काव्य है । इसमें कवि के वंश का अनुकीर्तन रहा करता है । जहाँ-तहाँ, इसमें अन्य कवियों के भी वृत्तान्त रहा करते हैं और पद्य भी पाये जाते हैं। उसके कथा-भागों को 'आश्वास' कहा जाता है । इन आश्वासों के आरम्भ में, उनमें आने वाली

कथा की सूक्ष्म सूचना दी जाती है जिसके लिये आर्या, वक्त्र, अपवक्त्र अथवा और कोई भी छन्द प्रयुक्त हो सकता है ।

१८-- गद्यपद्योभयात्मकं काव्यम्

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥३५॥

यथा-- देशराजचरितम् ।

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ।

'चम्पू' नामक एक और काव्य प्रकार है जिसकी रचना गद्य और पद्य दोनों में हुआ करती है।

जैसे-- 'देशराजचरित' ।

***

द्वितीयो विन्यासः

सप्तमपरिच्छेदः

१— दोषवर्णनम्

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः। सम्प्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषा ते पुनः पञ्चधा मताः ।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि च ॥१॥

सर्वप्रथम यह दिखाया जा चुका है कि 'काव्य में दोष, गुण, रीति और अलङ्कार की अवस्थिति कैसी है। अब ये दोष, गुण, रीति और अलङ्कार क्या हैं ? यह बताना अपेक्षित है और इसलिए, इनके उल्लेख के क्रम का अनुसरण करते हुये, दोषों के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है—

'दोष' वे हैं जो रस को अपकृष्ट अर्थात् विच्छिन्न अथवा अरोचक बनाया करते हैं । ये पांच प्रकार के हैं— १. पद, २. पदांश, ३. वाक्य, ४. अर्थ और ५. रस में ये दोष पाये जाते हैं ।

२— पद-पदांशदोषाः

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् । यथा—

'कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी
कदाऽनङ्गवशंवदा ।',

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् । यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे ।'

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ।'

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वमविमृष्टविधेयांशत्वम् । यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः'

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम्'

अत्राऽऽसमुद्रमिति वाच्यम् ।

पदांशे श्रुतिकटुत्वं यथा--

'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यम्' ।

एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः ।

'दुःश्रवत्व' (अथवा 'श्रुतिकटुत्व') दोष वह हैं जिसे वर्णों के परुष अथवा कठोर होने के कारण, किसी पद का कर्णकटु होना कहा जाता है । उदाहरण के लिये--

'अनङ्गवशंवदा' अर्थात् काम के वशीभूत, वह तन्वङ्गी (छरहरे शरीर वाली सुन्दरी) कब 'कार्त्तार्थ्य' अथवा कृतथार्थता को प्राप्त करेगी । यहाँ 'कार्तार्थ्य' पद में 'दुःश्रवत्व' स्पष्ट है, क्योंकि यहाँ जो वर्णध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं वे कानों को कष्ट पहुँचा रही हैं ।

'अप्रयुक्तत्व' वह दोष है जिसे किसी पद का, चाहे वह कोशादि में उस रूप में प्रसिद्ध हो, कवियों द्वारा अनादृत होना कहा जाता है । उदाहरण के लिये--

'सरोवर में पद्म (पद्म) शोभित हो रहा है ।' यहां 'पद्मः' इस पद में 'अप्रयुक्तत्व' दोष हैं क्योंकि कोश में भले ही यह पद-पुल्लिङ्ग में भी प्रसिद्ध हो (वा पुंसि पद्मं नलिनम्) किन्त कवि-सम्प्रदाय में यह नपुंसकलिंङ्ग में ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है ।

'क्षीरोदजा अर्थात् लक्ष्मी की वासभूमि (कमल) के जन्मस्थान (जल) स्वच्छ है ।'

यहाँ 'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः' इस पद में क्लिष्टत्व है क्योंकि 'जल स्वच्छ है' इस अर्थ की प्रतीति में यहां रुकावट पड़ रही है । 'क्षीरोदजा' से लक्ष्मी और उसकी 'वसति' (निवासभूमि) से कमल और उसके जन्मस्थान से जल के अर्थ तक पहुंचने में जो बाधायें हैं, वही दोष हैं ।

'अविमृष्टविधेयांशत्व' (अथवा विधेयाविमर्श) वह दोष है जिसे विधेय (प्रधान) अंश का विमर्श न करके उसे अप्रधान अथवा गौण रूप से उपस्थित करना कहा जाता है । जैसे कि--

'स्वर्गरूपी क्षुद्र गाँव के लूट-पाट से व्यर्थ ही फूले हुये इन हाथों से क्या ?' यहाँ विधेय अंश 'वृथात्व' (व्यर्थ होना) है किन्तु इसे (तत्पुरुष) समास में अन्तर्भूत कर दिया गया है जिससे यह गौण अथवा अप्रधान हो गया है (तत्पुरुष समास में उत्तर पद का प्राधान्य होता है, पूर्व पद का नहीं) ।

अथवा जैसे कि--

'समुद्रपर्यन्त पृथिवी के स्वामियों का'

यहाँ (कालिदास के रघुवंश की इस उक्ति में) विधेय अंश है-- 'आसमुद्रम्' अर्थात् 'समुद्र तक' जिसे इसी असमस्त रूप में रखना उचित था । किन्तु इसे समस्त करके गौण अथवा अप्रधान बना दिया गया है ।

पदांश में भी 'दुःश्रवत्व' अथवा 'श्रुतिकटुत्व दोष दिखायी देता है ।

जैसा कि--

'तद्गच्छ सिद्ध्यै, कुरु देवकार्यम्' (सिद्ध्यर्थ जाओ और देवताओं का कार्य सम्पन्न करो) । यहाँ 'सिद्ध्यै' इस पद के 'द्ध्यै' अंश में, परुषवर्णों के कारण, श्रुतिकटुत्व स्पष्ट है ।

अन्य भी पदांशगत दोष, इसी भाँति, यथासंभव जाने जा सकते हैं ।

३-- वाक्यदोषाः

हतवृत्तं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यं, रसाननुगुणप्राप्तगुरुभावान्तलघु च । क्रमेण यथा--

'हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः ।'

'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम् ।'

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवानुकूलम् ।

'विकसितसहकारभारहारिपरिमल एष समागतो वसन्तः ।,

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः,' इति पाठो युक्तः अक्रमता यथा--

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमम् रमणीयताम् ॥

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिदन्त' इत्यनन्तरम् ।

भग्नप्रक्रमता यथा--

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

अत्र वच्धातुना प्रकान्तंप्रतिवचनैमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः । प्रसिद्धित्यागो यथा--

'घोरो वारिमुचां रवः ।'

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् ।

'हतवृत्तत्व' अथवा 'हतवृत्तता' वह दोष है जिसे लक्षण के अनुसार किसी छन्द के ठीक होने पर भी सुनने में उसका ठीक न लगना, अथवा उसका रस के अनुकूल न होना और उसके अन्त में गुरुत्व न प्राप्त करा सकने वाले लघ्वक्षर का होना कहा जाया करता है ।

जैसे कि क्रमशः--

'बड़े दुःख की बात है कि कामदेव क्रुद्ध हो कर सदा इस सुन्दरी का हृदय बींधा करता है ।'

(यहाँ 'हतवृत्तत्व' दोष है क्योंकि यहाँ 'आर्या' वृत्त, छन्दः शास्त्र के 'आर्या' लक्षण के अनुसार तो ठीक है किन्तु सुनने में ठीक नहीं लगता क्योंकि 'हन्त सततमेतस्याः' यह पहला चरण 'अनुष्टुप्' सा सुन पड़ता है ।)

अरी मानिनि ! मेरे ऊपर मान न करो ।' यहाँ जो वृत्त है वह हास्य रस के अनुकूल है (किन्तु यहाँ रस 'हास्य' नहीं अपितु 'श्रृङ्गार' है) ।

'मञ्जरियों में भरे आम्र-वृक्षों की मनोहर सुगन्ध वाला वसन्त आ पहुँचा ।'

यहाँ 'विकसितसहकारभारहारिपरिमल' इत्यादि में 'हतवृत्तत्व' है क्योंकि प्रथम चरण के अन्त में 'हारि' का लघ्वक्षर 'इकार' गुर्वक्षर के रूप में नहीं सुन पड़ता । यहाँ 'विकसितसहकारभारहारिप्रभुदितसौरभ आगतो वसन्तः' ऐसा पाठ ठीक है क्योंकि तब 'हारि' का लघ्वक्षर 'इकार' गुरुत्व को प्राप्त कर लेता है ।

'अक्रमत्व' दोष, जैसे कि--

'समय ही किसी को सबल और किसी को दुर्बल बनाता है' यह बताते हुए, शरद् ऋतु में, मयूरों की केकाध्वनि को कर्कश बनाने वाले हंसों के कूजन मनोरम लगने लगे ।

यहाँ 'अक्रमत्व' है क्योंकि 'समय एव करोति बलाबलम्'यह वाक्यार्थ ही 'इति शब्द के द्वारा परामर्श--योग्य है और इसी के बाद 'इति' शब्द का प्रयोग उचित है न कि 'प्रणिगदन्तः' (बताते हुए) के बाद ।

मन्त्रिप्रवरों के द्वारा ऐसा कहे जाने पर रावण ने प्रतिभाषण किया ।'

यहाँ 'भग्नप्रक्रमत्व' अथवा 'प्रक्रमभंग' है क्योंकि आरम्भ में 'वच्' धातु का प्रयोग होने से अन्त में भी उसी का प्रयोग ना उचित है, 'भाष्' धातु का नहीं । इस लिए 'रावणः प्रत्यवोचत' ऐसा प्रयोग ही यहाँ ठीक है ।

'मेघों का रव भयङ्कर है ।'

यहाँ 'प्रसिद्धित्याग' स्पष्ट है क्योंकि कवि-सम्प्रदाय में, मेघों का 'गर्जन' ही प्रसिद्ध है, 'रव' नहीं (रव तो मेढक आदि के शब्द के लिए प्रसिद्ध है) ।

४— अर्थदोषाः

अपुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा--

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये ।

अत्र 'विततशब्दो' मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते । दुष्क्रमता यथा--

'देहि मे वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा--

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

'अपुष्टत्व' अर्थदोष वह है जिसे, किसी पदार्थ का, मुख्य अर्थ के प्रति अनुपकारक होना कहा जाता है । जैसे--

'प्रिये ! वितत व्योम (विस्तीर्ण गगन) में चन्द्रमा को देखकर मान करना छोड़ ।

यहाँ 'अपुष्टत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'मानत्याग' (मान छोड़ने) के मुख्यार्थ में 'वितत' (विस्तीर्ण) पद का अर्थ उपकारक नहीं प्रतीत होता । 'दुष्क्रमत्व' जैसे कि--

राजन् ! मुझे या तो घोड़ा दीजिए या ऐसा हाथी जो मतवाला हो ।

यहाँ 'दुष्क्रमत्व अर्थ दोष है क्यों पहले हाथी का मांगना उचित है जिसे न मिल सकने पर, घोड़े की कि मांग पूरी हो सकती है ।

'प्रसिद्धि-विरुद्धता' जैसे कि--

'इस के बाद, संग्राम में, तीक्ष्णशूल धारण किये विष्णु विचरण करने लगे ।'

'यहाँ प्रसिद्धि-विरोध' रूप अर्थ दोष है क्योंकि लोक में, विष्णु के लिए, 'शूल' का धारण करना अप्रसिद्ध है (शूल धारण तो शङ्कर के लिए ही प्रसिद्ध है ।)

५-- रसदोषाः

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ॥

अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥२॥

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा--

तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।

चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा--

अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।

अकाण्डे प्रथनं यथा -- वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् । छेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योऽन्यसंरम्भे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा-- कुमारसंभवे रतिविलापे ।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा-- रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा-- कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम् ।

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।

रस का 'स्वशब्द' अर्थात् वाचक पद के द्वारा अभिधान, स्थायी अथवा व्यभिचारी भावों का 'स्वशब्द' अर्थात् अनेक वाचक पदों द्वारा कथन, अनवसर के रस का प्रथन अथवा विस्तार, अनवसर में रस का विच्छेद अथवा ह्रास,, रस को पुनः पुनः दीप्त करना, प्रधान रस का विस्मरण, रस के जो अङ्ग न हों उनका वर्णन-- ये कतिपय रसगत दोष हैं ।

यहाँ रस के 'स्वशब्द' का अर्थ है-- 'रस' शब्द अथवा श्रृंगार आदि शब्द । जैसे कि क्रमशः--

'उस हरिणाक्षी को देख कर हमारे मन में एक अनिर्वचनीय रस उत्पन्न हो गया ।'

'चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय श्रृंगार में डूबने लगा ।

(यहाँ 'रस' इस सामान्य शब्द और 'शृंगार' इस विशेष शब्द के प्रयोग में कोई आनन्द नहीं मिलता ।)

स्थायी भाव का 'स्वशब्द' अथवा उसके वाचक शब्द द्वारा कथन, जैसे कि--

'तुम्हें देखने पर, उसके हृदय में तुम्हारे लिए 'रति' उत्पन्न हो गयी ।'

(यहाँ श्रृंगार रस के स्थायी भाव रति का उसके वाचक शब्द द्वारा अभिधान अनुचित है ।)

अनवसर में रस का विस्तार, जैसे --

'वेणी संहार' नाटक के दूसरे अंक में, जहां कवि ने दुर्योधन और भानुमती के शृंगार का, उस समय विस्तार किया है जबकि अनेकों शूरवीरों का संहार हो रहा है ।

अनवसर में रस का विच्छेद, जैसे--

'महावीर-चरित' नाटक, में राम की, कङ्कणमोचन के लिए जाने की, उस समय की उक्ति, जब कि वे और परशुराम पूरे जोश में भरे हुये दिखाये जा रहे हैं ।

रस की पुनः पुनः दीप्ति , जैसे 'कुमारसंभव' में रतिविलाप के प्रसंग में ।

प्रधान रस का विस्मरण, जैसे 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में, (कञ्चुकी) बाभ्रव्य के आगमन-- प्रसङ्ग में (नायिका) सागरिका का भूल जाना ।

रस के अनुपकारक का वर्णन जैसे कि 'कर्पूरमञ्जरी' में राजा और नायिका, स्वकृत वसन्तवर्णन के बदले, आचरण द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं ।

***

अष्टमपरिच्छेदः

१— गुणनिरूपणम्

गुणानाह—

> रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
> गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥१॥

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः ।

गुणों का निरूपण किया जाता है—

जैसे शरीर में आत्मा ही प्रधान है और उसी के धर्म 'शौर्य' आदि 'गुण' कहे जाते हैं वैसे ही काव्य में रस ही अङ्गी अथवा प्रधान है और उसी के धर्म 'गुण' कहे जाते हैं । ये गुण तीन प्रकार के हैं— (१) माधुर्य, (२) ओज (३) प्रसाद ।

तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर में अङ्गी अथवा प्रधान रूप से विराजमान आत्मा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले शौर्य आदि को 'गुण' कहा जाया करता है वैसे ही 'काव्य में अङ्गित्व अथवा प्रधानता को प्राप्त रस के धर्म, अथवा स्वरूप विशेष माधुर्य आदि को भी 'गुण' कहा जाता है । रस के धर्मभूत में 'माधुर्य' आदि गुण ही, वस्तुतः अपने समर्पक अथवा व्यञ्जक पद संदर्भ को, 'काव्य' का नाम देने में समर्थ होते हैं ।

२— माधुर्यवर्णनम्

तत्र—

> चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।
> संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥२॥

यथा—

> 'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।
> जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसंतापसन्ततिम् । ॥

यथा वा मम—

> 'लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
> समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

इन गुणों में--

'माधु र्य ' गु ण एक ऐ सा आह्लाद अथवा आनन्द है जिससे हृदय पिघल उठता है । इसे क्रमशः संयोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भशृंगार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर बढ़ा हुआ पाया जाता है ।

जैसे कि--

'उस रमणी के अपाङ्गों की भङ्गियाँ (कटाक्षविक्षेप) कामदेव की मङ्गलमय जन्मभूमि जैसी हैं और निरन्तर युवक प्रेमियों के अन्तस्तल में संताप परम्परा उत्पन्न किया करती हैं ।

यहाँ 'ङ' और 'ग' (जैसा कि पहले दूसरे चरणों में स्पष्ट है) तथा 'न' और 'त' (जैसा कि तीसरे और चौथे चरणों में स्पष्ट है) के संयोग से माधुर्य का अभिव्यञ्जन हो रहा है । रचना में छोटे छोटे समास भी यहाँ 'माधुर्य' के व्यञ्जक हैं ।

अथवा मेरी (विश्वनाथ कविराज की) यह रचना 'गुञ्जार करते मतवाले भौंरों से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बनाते' अङ्ग-अङ्ग का आलिङ्गन करते हुये अनङ्ग को सहसा बल देते; मन्द-मन्द गति से, खिले कमल को कम्पित करते और फूलों के पराग को धारण किये मलयानिल के भौंरे चारों दिशाओं में मकरन्द बिखेर रहे हैं ।

यहाँ 'अ' और 'ज' और 'ङ' तथा 'न' और 'द' के संयोग से 'माधुर्य' अभिव्यक्त हो रहा है । साथ ही साथ अल्प समासवती रचना इस 'माधुर्य' को और भी मधुर बना रही है ।

३-- ओजोवर्णनम्

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥३॥

यथा--

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात--
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

'ओजस्' (ओज) वह गुण है जिसे चित्त का जल उठना अथवा चित्त का विस्तार कहा जाता है । इसका अधिकाधिक अनुभव क्रमशः वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में हुआ करता है ।

जैसे कि–

हे 'देवि ! फड़कती भुजाओं द्वारा घुमायी गयी भयङ्कर गदा की चोट से चूर्ण-विचूर्ण जंघाओं वाले दुर्योधन के घनीभूत पंकिल खून से लाल-लाल हाथ लिये यह भीम तेरे केशों को सुमण्डित करेगा ।'

यहाँ की कठोर वर्णध्वनियाँ और दीर्घसमास वाली रचना– दोनों के द्वारा ओज की अभिव्यञ्जना हो रही है ।

४– प्रसादवर्णनम्

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥४॥

यथा–

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे गुणनिरूपणो नाम अष्टमः परिच्छेदः ।

'प्रसाद' वह गुण है जो कि सूखे इंधन में आग की भाँति, चित्त में व्याप्त हो जाता है और जिसे सभी रसों और सभी रचनाओं का सामान्य गुण कहा जाता है ।

उदाहरण के लिये–

'ओ मौक्तिक के हार ! एक बार ही सुई की नोक से छेदे जाने पर, तुम तो प्रिया के स्तनों पर लोट-पोट करने लगे हो किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि सैकड़ों बार काम के बाणों से मर्माहत होते हुये भी स्वप्न में भी, उसे नहीं देख पाता ।'

(यहाँ सुनने मात्र से ही अर्थबोध कराने वाले शब्दों के इस संदर्भ में 'प्रसाद' झलक रहा है । पढ़ने वाले का चित्त ऐसी रचनाओं के संपर्क में स्वच्छता अथवा निर्मलता से भर उठता है ।)

***

नवमपरिच्छेदः

१-- रीतिनिरूपणम्

अथोद्देशक्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह--

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥१॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

अब निर्देश-क्रम के अनुसार तो (जैसा कि 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः-- प्रथम परिच्छेद में स्पष्ट है) अलङ्कारों का निरूपण किया जाना चाहिये, किन्तु इसे छोड़ कर, क्योंकि इस विषय में बहुत कुछ कहना है, 'रीति' का निरूपण पहले किया जा रहा है--

पद-रचना को 'रीति' कहते हैं। यह अङ्गरचना की भांति होती है। इससे रस-भाव का, जो कि काव्य का आत्मत्व है, उपकार होता है। यह चार प्रकार की होती है-- १. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पाञ्चाली और ४. लाटी।

२-- वैदर्भीरीतिवर्णनम्

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥२॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा--

'अनङ्गमङ्गलभुवः' इत्यादि ।

'वैदर्भी रीति' वह पद-रचना है जिसमें माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों के कारण लालित्य रहा करता है और जिसमें असमस्त पद या अल्पसमास वाले पद प्रयुक्त हुआ करते हैं।

जैसे-- 'अनङ्गमङ्गलभुवः' आदि (आठवें परिच्छेद में उद्धृत) श्लोक।

३-- गौडीरीतिवर्णनम्

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥३॥

समासबहुला गौडी---

यथा-- 'चञ्चद्भुज'-- इत्यादि ।

'गौडीरीति' वह पद-रचना है जो ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों के कारण उद्भट प्रतीत होती है और जिसमें समस्त पदावली का प्रचुर प्रयोग हुआ करता है।

जैसे कि-- 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि (अष्टम परिच्छेद में उद्धृत) श्लोक।

४— पाञ्चालीरीतिवर्णनम् ।

वर्णैः शेषैःपुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥४॥
द्वयोर्वैदर्भीगौड्योः ।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥

'पाञ्चाली रीति' वह पद-रचना है जिसमें वैदर्भी और गौडी के उपर्युक्त वर्णों को छोड़कर अन्य वर्णों का गुंफन रहा करता है और जिसमें पांच या छः पदों के समास प्रयुक्त होते हैं।

जैसे—

स्वभावतः मधुर ध्वनि वाली तथा मधु ऋतु में खिली माधवी लता की मधु समृद्धि से और भी अधिक मधुर स्वर वाली, निरन्तर उन्मादक संगीत से भरी भ्रमरी ने मीठी-मीठी गुञ्जार का गान किया।

यहाँ प्रसाद पूर्ण वर्णों के सन्दर्भ में 'पाञ्चाली रीति' का रूप झलक रहा है।

५— लाटीरीतिवर्णनम्

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥'

'लाटी रीति' वह पद-रचना है जिसे 'वैदर्भी' और 'पाञ्चाली' रीतियों के बीच की पद-रचना कहा जाता है।

जैसे —

'कमलिनियों का विकासक' उदयाचल के वन पङ्क्तियों का नवीन खिलने वाला मन्दार का पुष्प, विरही चक्रवाक-युगल का परम मित्र तथा कोपाकुल कपि के कपोल की भाँति लाल-लाल यह सूर्य अन्धकार को छिन्न-भिन्न करते हुए, उदित हो रहा है।'

६ -- संक्षेपतःरीतिचतुष्टयस्य स्वरूपवर्णनम्

अन्ये त्वाहुः--

'गौडीडम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा ।

पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहे रीतिनिरूपणो नाम नवमः परिच्छेदः ।

दूसरे काव्याचार्य इन चारों रीतियों के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं--

'वैदर्भी' रीति ललित अथवा 'मधुरबन्ध' को कहते हैं, गौडी रीति 'उद्धत बन्ध' का नाम है, पाञ्चाली रीति 'मिश्रबन्ध' का अभिप्राय रखती है और लाटी रीति का अर्थ 'मृदुबन्ध' है ।

***

दशमपरिच्छेद

१-- अलङ्कारस्वरूपविचारः

अथावसरप्राप्तानङ्कारानाह--

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति तथाऽनुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः । अलङ्कारा अस्थिराः इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः ।

अब (गुण और रीति के निरूपण के बाद) अलङ्कारों के निरूपण का अवसर है इसलिए उनका निरूपण कर रहे हैं-- (काव्य में) 'अलङ्कार' वे हैं जो कि शरीर के शोभा वर्धक अंगद (बाजू बन्द) आदि की भाँति, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले, रस, भाव के सहायक, शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हुआ करते हैं ।

अभिप्राय यह है कि जैसे बाजू बन्द आदि शरीर की शोभा बढ़ाते हुए, शरीर में रहने वाले व्यक्तित्व की भी शोभावृद्धि में सहायक होते हैं वैसे ही अनुप्रास-उपमा आदि शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हुये, रसभाव का भी उपकार करते हैं । 'अलङ्कार' अस्थिर धर्म है-- इसका यह तात्पर्य है कि (गुण) की भाँति काव्य में इनकी अनिवार्य स्थिति अपेक्षित नहीं रहती ।

२-- शब्दालङ्कारेष्वनुप्रासः

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः ।

'अनुप्रास' वह अलङ्कार है जिसे स्वर के साम्य के न होने पर भी (व्यञ्जन का सादृश्य) कहा करते हैं ।

केवल स्वर का भी सादृश्य हो सकता है किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं हुआ करता । इसीलिये स्वर-सादृश्य की यहाँ कोई गिनती नहीं । रस-भाव की अनुकूलता अथवा अनुरूपता की दृष्टि से, व्यञ्जनों का एक प्रकृष्ट न्यास वस्तुतः 'अनुप्रास' अलङ्कार है ।

३-- अनुप्रासभेदेषु छेकानुप्रास

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥२॥

छेकश्छेकानुप्रासः । अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च । रसः सरः इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः । उदाहरणम्--

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥,

अत्र गन्धानन्धीतिसंयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेव छेकानुप्रासः ।

'छेकानुप्रास' वह अनुप्रास है जिसमें व्यञ्जनों का, अनेक प्रकार से, एक बार सादृश्य रहा करता है ।

यहाँ (कारिका में) 'छेकः' का अर्थ 'छेकानुप्रास' है । 'अनेकधा' अर्थात् 'अनेक प्रकार से' का अभिप्राय, व्यञ्जन के साम्य का स्वरूप और क्रम-दोनों तरह से होने का है । इसीलिये, 'रसः' और 'सरः' इत्यादि में, यह अलङ्कार नहीं रहता क्योंकि यहाँ 'र' और 'स' में सादृश्य होने पर भी इनका क्रम बिगड़ा हुआ है ।

उदाहरण-- 'कावेरी के जल के कणों से पवित्र, मौलसिरी की सुगन्ध से सनी और पग-पग पर भौंरों को मतवाला बनाती यह मन्द-मन्द समीर चली आ रही है ।

यहाँ 'गन्धानन्धी' में संयुक्त 'न' और 'ध' व्यञ्जनों की, 'कावेरीवारि' में असंयुक्त 'व' और 'र' व्यञ्जनों की और 'पावनः पवनः' में 'प', 'व' तथा 'न' इन तीन-तीन व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति दिखायी दे रही है । यह 'छेकानुप्रास' है । 'छेक' का अर्थ 'विदग्ध' अथवा चतुर कवि का अर्थ है । ऐसे कविजन के द्वारा ऐसे 'अनुप्रास' का व्यवहार होता है और इसीलिये इस अनुप्रास को 'छेकानुप्रास' कहते हैं ।

४-- तत्र वृत्त्यनुप्रासः

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥३॥

एकधा स्वरूपत एव न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च । सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि । उदाहरणम्--

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि । द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण । प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत् । रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः ।

'वृत्यनुप्रास' वह अनुप्रास है जिसमें अनेक व्यञ्जनों का एक प्रकार से (केवल स्वरूपतः न कि क्रमतः) साम्य, अथवा अनेक व्यञ्जनों का अनेकबार, अनेक प्रकार से (स्वरूपतः तथा क्रमतः) साम्य अथवा एक व्यञ्जन का एक बार या अनेक बार साम्य रहा करता है।

यहाँ 'एकधा' (एक प्रकार से) का अर्थ केवल स्वरूप से न कि क्रम से भी व्यञ्जनों की समानता का अर्थ है। 'अनेकधा' (अनेक प्रकार से) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम-दोनों प्रकारों से व्यञ्जन--साम्य का अभिप्राय है। 'सकृदपि' में अपि कहने से यह तात्पर्य समझना चाहिये कि 'अनेक बार भी' व्यञ्जनों के साम्य होने से 'वृत्यनुप्रास' अलंकार होता है।

उदाहरण-- बाहर निकली सुगन्ध से लुभाये हुये मधुकरों से कम्पित आम-मञ्जरियों पर क्रीडा करने में लगी कोयलों की कूक सुन-सुन कर जिनके कान पक गये हैं ऐसे विरही जन अपनी प्रेमिकाओं की स्मृति में ही अनेक मिलन के सुख का आनन्द मनाते हुये, बड़े दुःख से, इन दिनों को, किसी प्रकार काट रहे हैं।

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र' और 'स' व्यञ्जनों की, एक प्रकार से ही अर्थात् स्वरूप से ही, न कि क्रम से समानता है। दूसरे चरण में, 'क' और 'ल' व्यञ्जनों की, अनेक बार, उसी क्रम से समानता है। पहले चरण में 'म' व्यञ्जन की एक बार और 'घ' व्यञ्जन की अनेक बार समानता है। इसलिये यह 'वृत्यनुप्रास' है। 'वृत्ति' ऐसी-वर्ण-रचना को कहते हैं जिसमें रस भाव को अभिव्यक्त करने की शक्ति हुआ करती है। ऐसी वृत्ति से अनुगत, व्यञ्जनों का प्रकृष्ट न्यास ही 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार कहा जाता है।

५-- यमकः

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥४॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम् । क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्, अत उक्तम् 'सत्यर्थे', इति । 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च प्रभूततमभेदम् । दिङ्मात्रमुदाह्रियते--

नवपलाशपलाशवनं पुरः
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्
स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अत्र पदावृत्ति । 'पलाश पलाश' इति, 'सुरभिं सुरभिं इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्, 'पराग पराग' इत्यत्र द्वितीयस्य ।

'यमक' वह शब्दालङ्कार है जिसे, स्वर-व्यञ्जन समुदाय का (जो यदि अर्थ रखता हो तो अलग-अलग अर्थ रखे), एक ही क्रम से, आवर्तन (दुहराना) कहा जा सकता है।

'यमक' में, कहीं, दोनों पद सार्थक होते हैं और कहीं दोनों निरर्थक रहते हैं-- यह सब सोचकर, यहां, 'सत्यर्थे' (यदि सार्थक हो) यह कहा गया है । 'तेनैव क्रमेण' (उसी क्रम से)-- यह इसलिए कहा गया है जिसमें 'दमो मदः' जैसी बिगड़े क्रम वाली स्वर व्यञ्जन समूह की आवृत्ति को 'यमक' न माना जाय । यमक के अनेक प्रकार होते हैं । यहाँ दिग्दर्शन मात्र के लिए उदाहरण दे रहे हैं।

श्री कृष्ण ने 'रैवतक' पर्वत पर जो 'नव पलाश' (नये-नये पत्तो वाले), 'पलाश वन' से भरा था, सुमनोभरैः सुरभि (फलों की बाढ़ से सुगन्धित), सुरभि (वसन्त ऋतु) को देखा । जिसमें कमल 'स्फुटपराग' (बहुत अधिक पराग से) 'परागत' (व्याप्त) थे और जिस में 'लतान्त' (लताओं के अगले भाग) 'मृदुलतान्त' अर्थ मृदुल (मनोहर) और 'तान्त' (लम्बे-लम्बे) झुके थे ।

यहाँ 'पदावृत्ति' यमक है । यहाँ 'पलाश-पलाश' और 'सुरभि-सुरभि' में, दोनों पद, जिनकी आवृत्ति है, सार्थक हैं । 'लतान्त-लतान्त' में पहला 'लतान्त' पद निरर्थक है (क्योंकि इसका पहला अक्षर 'ल' मृदुल पद का अक्षर है) । 'पराग-पराग' में दूसरा 'पराग' पद निरर्थक है (क्योंकि इसका अगला अक्षर 'त' है) ।

६--- श्लेषः

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥५॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

दिङ्मात्रमुदाह्रियते--

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ
विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभू-
न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि

अत्र 'वक्ष्यती' ति विधु-विधि-शब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छ्लेषः ।

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणा च नृपात्मजः ॥

अत्र 'वक्ष्यती'ति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृद्' इति कृन्ततिकरोत्योः प्रकृत्योः ।

'श्लेष' वह अलङ्कार है जिस में श्लिष्ट पद के द्वारा अनेक अर्थ का प्रतिपादन हुआ करता है। 'वर्ण', 'प्रत्यय', 'लिङ्ग', 'प्रकृति, 'पद', विभक्ति' 'वचन', और 'भाषा'-- इनके श्लिष्ट होने के कारण, इसके आठ प्रकार होते हैं--

विधौ (भाग्य के अथवा चन्द्रमा के) 'प्रतिकूलतामुपगते' (प्रतिकूल हो जाने पर), बहुसाधनता विफलत्वमेति (सभी साधन निष्फल हो जाते हैं) । तभी तो, पतिष्यतः दिनभर्तुः करसहस्रमपि (अस्त होते अथवा नीचे गिरते सूर्य के) कर सहस्र (हजारों किरण अथवा हजारों हाथ भी), अवलम्बनाय न अभूत् (उसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं) ।'

यहाँ 'विधौ' इन पद में वर्ण- श्लेष है क्योंकि (सप्तमी विभक्ति के एकवचन में) 'विधि' और 'विधु' शब्द के 'इकार' और 'उकार' दोनों का 'औ' हो जाने से एकरूपत्व हुआ है ।

'यह राजपुत्र सभी शास्त्रों को, हृदय में और विद्वानों के बीच, धारण करेगा तथा प्रतिपादन करेगा (वक्ष्यति = वह, प्रापणे' के लृट् लकार के एकवचन का रूप, जिसका अर्थ 'धारण करेगा' है तथा 'वच् परिभाषणे' के लृट्लकार के एक वचन का रूप, जिस का अर्थ 'प्रतिपादन करेगा' है । साथ ही साथ, यह अपने शत्रुओं और मित्रों का 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं कृन्तीति सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्य नष्ट करने वाला तथा सामर्थ्यं करोतीति सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला अर्थात्) शक्तिनाशक और शक्तिवर्द्धक भी होगा ।'

यहाँ 'प्रकृतिश्लेष' है क्योंकि 'वक्ष्यति' में 'वह' (प्रापणार्थक) और 'वच्' (भाषणार्थक) तथा 'सामर्थ्यकृत्' में 'कृती' (छेदनार्थक) और 'कृञ्' (उत्पादनार्थक ये प्रकृतियाँ श्लिष्ट हैं ।

७--- अर्थालङ्कारेषूपमा ।।

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।।

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

'श्रौती यथेव वाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वावतिः ।।५।।'

उदाहरणम्--

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।

हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले ॥

अत्र श्रौती (पूर्णोपमा) ।

मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।

चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥

अत्र आर्थी (पूर्णोपमा) ।

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ।

त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ॥

उदाहरणम्--

मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये ।

वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥

....कथिता रशनोपमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥८॥

यथा--

चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो

हंसायते चारुगतेन कान्ता ।

कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि

वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा--

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।

यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥

'उपमा' वह है, जिसे, एक वाक्य में, दो पदार्थों का ऐसा साम्य कहा जाता है जो वाच्य होता है और वैधर्म्य (धर्मभेद) से भी रहित होता है ।

'रूपक' आदि अलङ्कारों में साम्य व्यङ्ग्य रहा करता है, 'व्यतिरेक' अलङ्कार में वैधर्म्य अथवा

धर्म-भेद का भी कथन हुआ करता है, 'उपमेयोपमा' में दो वाक्य प्रमुख होते हैं और 'अनन्वय' में एक ही पदार्थ में, साम्य का प्रतिपादन रहा करता है-- इस दृष्टि से, 'उपमा' इन सब अलङ्कारों से भिन्न प्रकार का अलङ्कार है ।

यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' कही जाती है जब साधारण धर्म, औपम्यवाचक पद, उपमेय और उपमान-- ये चारों वाक्य अथवा शब्द द्वारा प्रतिपादित हुआ करते हैं ।

यहाँ कारिका में 'सा' इस पद से 'उपमा' का अर्थ समझना चाहिये । 'चन्द्र इव मनोज्ञं मुखम्' आदि में 'साधारण धर्म' का अभिप्राय दो पदार्थों के परस्पर सादृश्य के हेतुभूत गुण और क्रिया जैसे कि मनोज्ञता, आदि का है । 'उपमान' से चन्द्र आदि समझे जाते हैं ।

यह 'पूर्णोपमा' दो प्रकार की होती है-- १. 'श्रौती पूर्णोपमा', जिसमें 'यथा' 'इव' अथवा 'वा'-- ये उपमावाचक शब्द प्रयुक्त रहते हैं अथवा 'इव' के अर्थ में, ('तत्र तस्येव', अष्टाध्यायी ५.१.११६ से विहित) 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ करता है और दूसरी 'आर्थी' पूर्णोपमा, जिसमें 'तुल्य', 'समान' आदि उपमावाचक शब्द व्यवहृत होते हैं अथवा 'तुल्य' के अर्थ में (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः, अष्टाध्यायी ५. १. ११५ से विहित) 'वति' प्रत्यय का व्यवहार हुआ करता है ।

उदाहरण-- 'बाले ! तब मुखस्य सौरभमम्भभोरुहवत्-- तुम्हारे मुख की सुवास कमल की सी है, 'तव स्तनौ कुम्भाविव पीनौ तुम्हारे स्तन कुम्भ जैसे पीन हैं और 'तव शरदिन्दुर्यथा वदनं हृदयं मदयति'-- शरत्कालीन चन्द्र जैसा तुम्हारा मुख बड़ा हृदयहारी है ।

यहाँ श्रौती पूर्णोपमा है ।

'तस्याः अधरः सुधावद् मधुरः-- उसका अधर अमृत के समान मधुर है, 'तस्याः पल्लवतुल्यः पाणिः अतिपेलवः' उसका हाथ पल्लव सदृश अत्यन्त सुकुमार है और 'तस्याः चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी लोचने च चपले' = और चकितहरिणी की आँखों सरीखी उसकी आँखे चञ्चल हैं ।

यहाँ 'आर्थी' पूर्णोपमा है ।

लुप्तोपमा

'लुप्तोपमा' वह उपमा है जिसमें, साधारण धर्म आदि (उपमान, उपमेय, उपमावाचक और साधारण धर्म) चारों में से एक या तीन का प्रयोग नहीं हुआ करता । पूर्णोपमा की भांति, यह भी 'श्रौती' और 'आर्थी' हुआ करती है ।

जैसे --

'प्रिये ! ते मुखमिन्दुर्यथा-- प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा जैसा है, 'ते पाणिः पल्लवेन समः- तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, 'ते वचः सुधा इव'-- तुम्हारी बोली सुधा सी है, 'ते ओष्ठः बिम्बतुल्यः'-- तुम्हारा ओठ बिम्ब तुल्य है', और, 'ते मनः अश्मवत्' तुम्हारा हृदय पत्थर के सदृश है ।

उस उपमा को 'रशनोपमा' कहते हैं जिसमें पूर्व-पूर्व वाक्य में प्रयुक्त 'उपमेय' उत्तरोत्तर वाक्य में 'उपमान' बना करताहै--

जैसे --

(शरद् ऋतु में) शुभ्र-कान्ति-युक्त हंस चन्द्रमा जैसा लगता है, सुन्दर गति-युक्त रमणी हंस जैसी लगती है, स्पर्श में सुखदायक जल रमणी जैसा लगता है और स्वच्छन्द से मुक्त आकाश जल जैसा प्रतीत होता है ।'

मालोपमा

इसी प्रकार 'मालोपमा' वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान रहा करतेहैं ।

जैसे--

'जैसे कमल से सरसी मनोहर लगती है, चन्द्रमा से रात मनोहर लगती है और यौवन में कामिनी मनोहर लगती है वैसे ही नय (सुन्दर राजनीति) से राज्यलक्ष्मी मनोहर लगा करती है ।'

८-- अनन्वयः

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥६॥

अर्थादेकवाक्ये । यथा--

'राजीवमिव राजीवं जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ॥'

'अनन्वय' वह अलङ्कार है जहाँ एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपों में रहा करती है । ('उपमेयोपमा' में तो एक वस्तु, दो वाक्यों में, उपमान और उपमेय रूप में रहा करती है) इसलिये यहाँ 'अनन्वय' में यह आवश्यक है कि एक वाक्य में ही, कोई वस्तु, उपमान और उपमेय दोनों रूपों में रहे ।

जैसे कि--

'शरद् ऋतु के आगमन पर, कमल कमल जैसे खिल उठे, जल जल जैसा लगने लगा और चन्द्रमा चन्द्रमा जैसा चमक उठा ।'

६-- उपमेयोपमा

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये । यथा--

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला
तनुरिव विभा विभेव तनुः ।

धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी
सततं विभाति वत यस्य ।।'

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृश नान्यदस्तीत्यभिप्रायः ।

'उपमेयोपमा' वह है जिसमे दो वस्तुयें, क्रमशः उपमान और उपमेय रूप में वर्णित होती हैं ।

यहाँ 'एतत्' (यह) का अभिप्राय उपमानता और उपमेयता से है । 'उपमेयोपमा' के लिये यह आवश्यक है कि एक वस्तु का उपमान और उपमेय होना दो वाक्यों में दिखाया जाय ।

उदाहरण के लिये— 'उस राजा की बुद्धि उसकी राजलक्ष्मी सी सुशोभित है और उसकी राजलक्ष्मी उसकी बुद्धि के समान सुशोभित है । उसकी कान्ति उसकी देह जैसी सुन्दर है और उसकी देह उसकी कान्ति सदृश सुन्दर है । इसी प्रकार उसकी धीरता उसकी पृथ्वी जैसी तथा उसकी पृथ्वी उसकी धीरता सदृश शोभित होती है ।

यहाँ यह अभिप्राय निकलता है कि उस राजा की लक्ष्मी तथा बुद्धि आदि के सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं है ।

१०— रूपकम्

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे ।

'रूपित' इति परिणामाद्व्यवच्छेदः । 'निरपह्नव' इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदार्थम् ।

यथा—

'आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ।।'

'रूपक' वह है जिसमें 'निरपह्नव विषय' पर अर्थात् ऐसे उपमेय पर, जिसका अपह्नव या निषेध न किया जाय, 'रूपित' अथवा भेदरहित उपमान का आरोप दिखाया जाया करता है ।

यहाँ 'रूपित' इस लिये कहा गया जिससे 'परिणाम' अलङ्कार से रूपक का भेद पता चले । 'परिणाम' अलङ्कार के प्रसङ्ग में इसका स्पष्टीकरण किया जायगा । 'निरपह्नवे' इस लिये कहा गया जिसमें 'रूपक' को 'अपह्नुति' से भिन्न समझा जाय ।

हे महाराज नृसिंह देव ! संग्राम में, संसार के उद्दण्ड राजमण्डल (चन्द्रमण्डल रूप राजमण्डल) के लिये राहु रूप आपके भुजदण्ड मंगलमय हों ।

११-- परिणाम

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥११॥
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात् परिणामः ।

यथा--

स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया ॥

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसंभावनद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन । रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जाकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगरुः । इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्यप्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः ।

'परिणाम' वह अलङ्कार है जिसमें आरोप्य (उपमान), विषय अथवा उपमेय के रूप में, प्रकृत कार्य में उपयुक्त होते हुये दिखाया जाता है । इसके भी दो प्रकार हैं- पहला तुल्याधिकरण (अथवा समानाधिकरण) परिणाम और दूसरा अतुल्याधिकरण (अथवा व्यधिकरण) परिणाम ।

'परिणाम' को इसलिये परिणाम कहते हैं क्योंकि इसमें 'आरोप्यमाण' अथवा उपमान 'आरोपविषय' अथवा उपमेय के रूप में परिणत हो जाया करता है ।

'उस सुन्दरी ने, दूर से आये मुझे, अपनी मुस्कराहट की भेंट दी और द्यूतक्रीडा मे गाढालिङ्गन रूप प्रतिज्ञा भी की ।

भेट तथा प्रतिज्ञा, और जगहों पर तो वस्त्राभरण के रूप में देने योग्य हैं किन्तु यहाँ ये दोनों के स्वागत और उसके साथ द्यूतक्रीडा में, मुस्कराहट और गाढालिङ्गन रूप में दिखाये गये हैं । इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'अतुल्याधिकरण' परिणाम है क्योंकि 'स्मित' (उपमेय) और 'उपायन' (उपमान) में विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं । किन्तु इसके उत्तरार्ध मे तुल्याधिकरण' परिणाम दिखायी देता है क्योंकि 'आश्लेष' अथवा आलिङ्गन (उपमेय) और 'पण' (उपमान) की विभक्तियाँ एक है। 'रूपक' और 'परिणाम' भेद इसलिए स्पष्ट है क्योंकि 'मुखचन्द्रं पश्यामि (मुखचन्द्र देख रहा हूँ) आदि रूपक के प्रसङ्गों में, आरोप्यमाण (उपमान) चन्द्र आदि से मुख आदि (उपमेय) में केवल उपरञ्जन अथवा सौन्दर्याधान ही हुआ करता है न कि प्रस्तुत कार्य जैसे कि दर्शन में कोई लाभ पहुँचता है । किन्तु, 'स्मितेन' आदि में जो परिणाम अलङ्कार है उसमें उपायन (उपहार) आदि

(उपमान) स्मित (मुस्कराहट) आदि (उपमेय) के साथ एक रूप प्रतीत होते हैं और साथ ही साथ प्रस्तुत कार्य जैसे कि प्रेमी के स्वागत आदि में उपयुक्त भी दिखायी देते हैं ।

१२. सन्देहः

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥१२॥

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रंभिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य श्रृंगारिणः ॥'

'संदेह' वह अलङ्कार है जिसमें प्रकृत (उपमेय) में, अप्रकृत (उपमान) का ऐसा संशय रहा करता है जिसमें कवि की प्रतिभा का हाथ दिखायी दिया करता है ।

'क्या यह तरुणी', रसभार से खिली, नव यौवन-पादप की नयी मंजरी है ? अथवा क्या यह तट पर उछलती, लावण्य-सा र की कोई लहर है ? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यह, अत्यधिक उत्कण्ठित प्रेमी जनों को कामशास्त्र की शिक्षा देने वाले शृंगार के अधिपति कामदेव की 'उपदेश-यष्टि' (छड़ी) है ?

१३-- भ्रान्तिमान्

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥१३॥

यथा--

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शवरी मुक्ताफलाशङ्कया,
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः । यथा-- 'शुक्तिकायां रजतम्' इति ।

'भ्रान्तिमान्, वह अलङ्कार है जिसे साम्य अथवा सादृश्य के कारण किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का ऐसा ज्ञान कहा जाता है जिसमें कवि की प्रतिभा का हाथ दिखायी दिया करता है ।

जैसे वे--

'चन्द्रमा की यह छिटकती घनी चांदनी किस के मन में भ्रम नहीं उत्पन्न कर सकती । मुग्धबुद्धि

गोप जब दूध बहने के भ्रम से गाँवों के नीचे घड़े लगा रहे हैं; कामिनियाँ, श्वेत कमलों के धोखे में, नील कमलों को कानों में लगा रही हैं और भीलों की स्त्रियां मोती के भ्रम में पड़कर कर्कन्धू (बेर) के फल बटोर रही हैं ।

'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार, उस प्रकार के भ्रम में जो कि 'सीप में चांदी' आदि के अनुभवों में रहा करता है और जिसमें कोई चमत्कार नहीं होता है वहाँ, नहीं माना जाता है ।

१४-- उल्लेख

क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखः यः स उल्लेख उच्यते ॥१४॥

क्रमेणोदाहरणम्--

'प्रिय इति गोपवधूभिः, शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं-प्रयोजकाः ।

यथा वा

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।'
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः ॥

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः ।

'उल्लेख' वह अलङ्कार है जिसमें ज्ञाता अथवा विषय के भेद से एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेखन अथवा अनुभव हुआ करता है । क्रमशः उदाहरण ये हैं--

'कृष्ण को गोपवधुओं ने प्रियतम, गोपवृद्धों ने शिशु, देवों ने परमेश्वर, भक्तों ने नारायण और योगियों ने साक्षात् ब्रह्म माना ।

यहाँ भगवान् कृष्ण एक हैं किन्तु उनमें प्रियतम आदि के धर्मों में विराजमान होने से, गोप वधुओं आदि ने, अपनी अपनी रुचि आदि के अनुसार उन्हें अनेक प्रकार से देखा-- इस प्रकार, यहाँ ज्ञातृभेद से एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेख होने से उल्लेखालङ्कार है ।

अथवा यह उदाहरण--

हे 'राजन् ! आप गम्भीरता के कारण समुद्र हैं, गुरुता के कारण पर्वत हैं और लोगों की कामना पूर्ण करने के कारण कल्पवृक्ष हैं ।

यहाँ एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेख है । किन्तु इसका कारण (रुचि आदि नहीं अपितु) गम्भीरता आदि के विषयों का भेद है ।

१५-- अपह्नुतिः

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

यथा--

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि-
नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो
नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

'अपह्नुति' अलङ्कार वह है जिसमें प्रकृत अथवा उपमेय का निषेध करके अन्य अथवा उपमान का स्थापन किया जाता है ।

जैसे--

'यह आकाश नहीं यह समुद्र है; ये तारे नहीं नये-नये फेन के बुल-बुले हैं; यह चन्द्रमा नहीं, यह कुण्डली मार कर बैठा शेषनाग है और यह कलङ्क नहीं अपितु शेषशायी विष्णु हैं ।'

१६-- उत्प्रेक्षा

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ॥१५॥

'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिने स्थानं म दत्तमिति लज्जया ॥'

'उत्प्रेक्षा' वह अलङ्कार है जिसमें प्रकृत अथवा उपमेय की उपमान के रूप में कल्पना की जाती है ।

इस सुन्दरी के स्तनयुगल ने अपना मुख इसलिये नहीं दिखाया क्योंकि गुणी (सूत में गुंथे) हार के लिये स्थान न देने से उसे लज्जा लगी ।'

यहाँ 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' इसलिये है क्योंकि यहाँ 'लज्जा' के हेतु की जो संभावना की गयी है उसके साथ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि का प्रयोग नहीं किया गया ।

१७-- अतिशयोक्तिः ।

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।
विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ॥१६॥

यथा--

'कथमुपरि कलापिनः कलापो
विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं
तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥'

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।

'अतिशयोक्ति' वह है जिसमें 'अध्यवसाय; अर्थात् विषय (उपमेय) के निवारणपूर्वक विषयी (उपमान) के साथ अभेद-ज्ञान सिद्ध रूप में रहा करता है (उत्प्रेक्षा की भाँति साध्यरूप में नहीं) ।

जैसे--

'कैसा आश्चर्य है । सबसे ऊपर मोर की पूंछ दिखायी दे रही है, उसके 'नीचे अष्टमी का चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है, उसके नीचे चञ्चल दो नीले कमल झांक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फूल दिखायी दे रहा है और उसके नीचे मूंगा झलक रहा है ।'

यहाँ रमणी के केशपाश आदि (विषयी अथवा उपमेय) का मयूरपिच्छ आदि (विषय अथवा उपमान) के रूप में अध्यवसान स्पष्ट है ।

१८-- तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥१७॥

यथा--

तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

'तुल्ययोगिता' वह है जिसमें केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का अभिसंबन्ध वर्णित रहता है ।

जैसे--

'उस रमणी के अंगों की सुकुमारता का दर्शन करने वाले किस पुरुष के हृदय में, मालती चन्द्रकला और कदली की कठोरता नहीं प्रतीत हो उठती ।'

यहाँ, 'मालती' आदि अप्रस्तुत पदार्थों में एक कठोरता रूप गुण का संबन्ध प्रतिपादित किया गया है ।

१९-- दीपकम्

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥१८॥

क्रमेणोदाहरणम्--

'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेःप्रस्तुतायाश्च योषित एकानुगमनक्रियासंबन्धः ।

'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

अत्र कस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासंबन्धः ।

'दीपक' वह है जिसमें अप्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का संबन्ध बताया रहता है अथवा अनेक क्रियाओं में एक कारक निर्दिष्ट रहता है ।

क्रमशः उदाहरण--

'विजयाभिलाषी वह शिशुपाल, पहले की तरह, अब भी सारे संसार को कष्ट पहुंचा रहा है । सती-साध्वी स्त्री और कभी न बदलने वाली प्रकृति, वस्तुतः, जन्भान्तर में भी मनुष्य का साथ दिया करती हैं ।'यहाँ 'निश्चल प्रकृति' प्रस्तुत पदार्थ है और 'सती-साध्वी स्त्री' अप्रस्तुत पदार्थ और दोनों में अनुगमन रूप एक क्रिया का संबन्ध निर्दिष्ट है ।

'जब तुम' जो उसके प्राणनाथ रहे, उससे दूर चले आये, तब काम-बाणों से पीड़ित वह बेचारी कभी उठती है, कभी सोती है, कभी तुम्हारे निवास पर जाती है, कभी वहाँ से लौट पड़ती है, कभी हंसने लगती है और तुरंत ही आह भरने लगती है ।'

यहाँ उठने, सोने आदि की अनेक क्रियाओं के साथ एक 'नायिका' रूप कर्तृकारक का संबन्ध स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

२०— प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥१६॥

यथा—

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा

'प्रतिवस्तूपमा' वह अलङ्कार है जिसमें, दो वाक्यार्थों में, जिनमें सादृश्य गम्य रहा करता है, एक साधारण धर्म, भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित हुआ करता है ।

जैसे—

'हे वैदर्भि ! तुम सचमुच सौभाग्यशालिनी हो, क्योंकि, तुमने अपने महनीय गुणों से, महाराज नल को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है । चन्द्रिका की इससे बढ़कर और क्या प्रशंसा हो सकती है कि समुद्र को भी वह अपनी ओर चञ्चल बना देती है ।'

यहां 'आकर्षण' (आकृष्ट करना) और 'उत्तरलीकरण' (चञ्चल बनाना)— दोनों क्रियायें एक ही पदार्थ हैं और पुनरुक्ति दूर करने के लिये, इन्हें, भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा, प्रतिपादित किया गया है ।

२१— दृष्टान्तः

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः ।

उदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥'

'दृष्टान्त' वह अलङ्कार है जिसमें दो वाक्यों में, धर्म सहित 'वस्तु' (उपमान और उपमेय रूप धर्मों) का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलका करता है ।

यहां 'सधर्मस्य इसलिये कहा गया जिसमें 'दृष्टान्त' से 'प्रतिवस्तूपमा' को पृथक् समझा जाय।

उदाहरण के लिये--

'अच्छे कवियों की सूक्तियाँ, चाहे उनके गुणों का पता हो न हो, कानों में मधुधार उड़ेल देती है । मालती की माला भी, भले ही उसकी सुगन्ध पहचानी न गयी हो, दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है ।'

२२-- निदर्शना

संभवन् वस्तुसंबन्धेऽसंभवन्वापि कुत्रचित् ॥२०॥
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ।

तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना यथा--

'कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना (अनेकवाक्यगा) यथा--

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपु--
स्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुव स नीलोत्पलपत्रधारया
शमिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

'निदर्शना' वह अलङ्कार है जिसमें, वस्तुओं का अबाधित रहने वाला अथवा बाधित होने वाला संबन्ध, उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का बोधक हो जाया करता है-

अबाधित रहने वाले वस्तु-संबन्ध में निदर्शना, जैसे--

'इस संसार में, व्यर्थ के लिए लोगों को कष्ट पहुँचाने वाला ऐसा कौन है जो बहुत देर तक संपदाओं का भोग कर पाये । वस्तुतः निदाघ के दिन के द्वारा, इसी बात को सूचित करते हुये, सूर्य अस्ताचल की ओर चल पड़ा ।'

बाधित होने वाले वस्तु-संबन्ध में (अनेक वाक्यगा) निदर्शना, जैसे--

'जो ऋषि, स्वभावतः सुकुमार शकुन्तला के इस शरीर को, तपस्या के कष्टों को सहन करने में समर्थ बनाना चाहता है, वह मानो, नीलकमल के किसलय के किनारों से शमी का पेड़ काटना चाह रहा है ।

२३– व्यतिरेकः

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ॥२१
व्यतिरेकः....

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च ।

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम् ।

अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।,

उदाहरणम्- न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा–

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ।'

अत्र चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्वं स्फुटमेव ।

'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा न्यूनत्व वर्णित रहता है ।

उपमान से उपमेय के आधिक्य अथवा वैशिष्ट्य का कारण उपमेयगत उत्कर्ष अथवा उपमानगत अपकर्ष है ।

उदाहरण के लिए–

'उसका मुख जो निष्कलङ्क है उस चन्द्रमा जैसा नहीं जो कलङ्कयुक्त है ।'

यहाँ उपमेय (मुख) गत उत्कर्ष के हेतु 'निष्कलङ्कत्व' और उपमान– (चन्द्र) गत अपकर्ष के हेतु 'कलङ्कित्व'-दोनों का प्रतिपादन है ।

उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनत्व में (व्यतिरेक), जैसे–

हे 'सुन्दरि ! इसमें कोई संदेह नहीं कि चन्द्रमा बार-बार घटते हुए भी बढ़ जाता है किन्तु बीता हुआ यौवन फिर लौट कर नहीं आता । तू प्रसन्न हो जा, मान करना छोड़ दे ।

यहाँ उपमानभूत चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेयभूत यौवन का अपकर्ष स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

२४– सहोक्तिः

सहार्थस्य बलादेक यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥२२॥

उदाहरण्--

समनेव नराधिपेन सा

गुरुसंमोहविलुप्तचेतना ।

अगमत्सह तैलबिन्दुना

ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलन् ॥'

'सहोक्ति' वह अलंकार है जिसमें 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से एक पद दो अर्थों का वाचक हुआ करता है और जिसके मूल में अतिशयोक्ति का रहना आवश्यक है ।

उदाहरणः-- 'अत्यधिक संमोह के कारण अचेतन वह इन्दुमती, महाराज अज के साथ ही साथ, ऐसे पृथिवी पर गिर पड़ी जैसे तेल की बूंद के सांथ दीपक की लौ नीचे गिर पड़ती है ।'

२५-- विनोक्तिः

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ।

यथा--

'विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः ।

विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

'विनोक्ति' उसे कहते हैं जिसमें, एक के बिना दूसरा, अशोभन होते अथवा न होते प्रतिपादित किया जाता है ।

जैसे--

'वर्षा के समय के बिना चन्द्रमा निर्मल हो गया है और ग्रीष्म के संताप केबिना वनवीथी मनोहर लगने लगी है ।

२६-- समासोक्तिः

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ॥२३॥

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया

वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।

आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या

धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

'समासोक्ति' वह है जिसमें समान रूप से प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) में समन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) में, अप्रस्तुत (उपमान) के व्यवहार का आरोप किया जाता है।

'अरे मलयसमीर ! तू ही धन्य है क्योंकि इस कमलनयनी सुन्दरी के स्वर्णकलशसदृश उरोज से वस्त्र हटाकर, बलात् तुमने इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग का आलिङ्गन किया है।'

यहाँ मलयानिल में, जो प्रस्तुत है, अप्रस्तुत हठकामुक के व्यवहार का आरोप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

२७-- अप्रस्तुतप्रशंसा

क्वचिद्विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ॥२४॥

कार्यान्निमितं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।

अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः ॥२५।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्

यथा--

स्रगियं यदि जीवितापहा

हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवे-

दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्याहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः।

'अप्रस्तुतप्रंसा' वह अलङ्कार है जिसमें १. प्रस्तुत 'सामान्य' से प्रस्तुत 'विशेष'; २. अप्रस्तुत 'विशेष' से प्रस्तुत 'सामान्य', ३. अप्रस्तुत 'कार्य' से प्रस्तुत 'कारण', ४. अप्रस्तुत 'कारण' से प्रस्तुत 'कार्य और ५. अप्रस्तुत 'समान वस्तु' से प्रस्तुत 'समान वस्तु' का अभिव्यंजन हुआ करता है। जैसे--

'यह माला यदि प्राण ले सकती है तब मेरे हृदय पर पड़ी, यह, मेरा प्राण क्यों नहीं ले लेती। ठीक ही है-- ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है।'

यहाँ अप्रस्तुत 'विशेष' (विष और अमृत) का अभिधान है और उससे प्रस्तुत 'सामान्य' की

अर्थात् 'ईश्वरेच्छा से अहितकर भी हितकर बन जाता है और हितकर भी अहितकर हो जाता है।' इस आशय की अभिव्यञ्जना हो रही है ।

२८– व्याजस्तुतिः

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥२६॥

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः ।

स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः । क्रमेण यथा–

'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥'

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज–
साहाय्यमर्जयसि यत् पथिकान्निहत्य ॥'

'व्याजस्तुति' वह है जिसमें १. वाच्य निन्दा द्वारा स्तुति व्यङ्ग्य हुआ करती है और २. वाच्य स्तुति द्वारा निन्दा व्यङ्ग्य हुआ करती है ।

'व्याजस्तुति' इस पद की व्युत्पत्ति से ही उपर्युक्त दोनों अभिप्राय निकलते हैं क्योंकि 'व्याजेन स्तुतिः व्याजस्तुतिः' अर्थात् 'निन्दा के बहाने स्तुति करना' इससे 'वाच्य निन्दा के द्वारा स्तुति के व्यङ्ग्य होने का' अर्थ निकल जाता है और 'व्याजरूपा स्तुतिः व्याजस्तुतिः' अर्थात् 'स्तुति नहीं अपितु स्तुति का बहाना'– इससे 'वाच्य स्तुति के निन्दा के व्यङ्ग्य होने का अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

जैसे कि क्रमशः–

'हे महाराज ! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारियाँ पहले की भाँति ही विश्वस्त दिखायी पड़ रही हैं क्योंकि उनके स्तनयुगल जैसे पहले 'मुक्ताभरण' (मौक्तिकमाल से सुशोभित) थे वैसे अब भी 'मुक्ताभरण' (आभरण रहित) हैं और उनके अङ्ग जैसे पहले 'कण्टककलित' (प्रेमलीला में रोमाञ्चित) थे, वैसे अब भी 'कण्टककलित' (काँटों में चुभे) हैं ।

'हे पयोद ! यह तो मैंने तुम्हारी व्याजस्तुति की है कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन का निदान है । तुम्हारी तो वास्तविक स्तुति यह है कि विरहियों का प्राण लेकर तुम धर्मराज (यम) के सहायक बनते हो ।'

२९– अर्थान्तरन्यासः

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं व कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥२६॥

उदाहरणम्–

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषणरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

अर्थान्तरन्यास वह अलङ्कार है जिसमें–क) साधर्म्य अथवा ख) वैधर्म्य से, १. विशेष के द्वारा सामान्य का, २. सामान्य के द्वारा विशेष का, ३. कारण के द्वारा कार्य का और ४. कार्य के द्वारा कारण का समर्थन रहा करता है । इस प्रकार इसके आठ भेद होते हैं ।

जैसे कि–

'बड़े की सहायता मिलने पर, छोटा भी अपना काम पूरा कर लेता है । बड़ी नदी से मिल जाने पर पहाड़ी क्षुद्र नदी भी समुद्र तक जा पहुँचती है ।'

यहाँ 'प्रथमार्ध' में जो अभिप्राय है वह 'सामान्य' रूप का है और उसका समर्थन 'द्वितीयार्ध' के 'विशेष' रूप अभिप्राय द्वारा स्पष्टतया किया जा रहा है ।

३०– विभावना

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ॥
युक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥२८॥

यथा–

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥'

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् । अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृशः' इति पाठेऽनुक्तम् ।

'विभावना' वह अलङ्कार है जिसमें हेतु अथवा कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति वर्णित होती है । इसके दो प्रकार होते हैं– १. 'उक्तनिमित्ता' विभावना और २. 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना ।

जैसे कि--

'यौवन के आते, इस सुन्दरी की कटि बिना आयास के ही कृश हो रही है, आंखे बिना शङ्का के ही चञ्चल बन गयी हैं और शरीर बिना आभूषण के ही मनोहर दिख रहा है ।'

यहाँ इन सब बातों के होने के 'निमित्त' के रूप में 'यौवन' का प्रतिपादन किया गया है । इसलिये यहाँ 'उक्तनिमित्ता' विभावना हुई । यहीं, यदि 'वपुर्वयसि सुभ्रुवः' के बदले 'वपुर्भाति मृगीदृशः' कर दिया जाय तो 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना हो जायगी क्योंकि इन सब बातों के होने का निमित्त अर्थात् यौवन 'अनुक्त' अथवा अप्रतिपादित है ।

३१-- विशेषोक्तिः

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।।

तथेत्युक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा--

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ।।'

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम्। अत्रैव चतुर्थे पादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् ।

'विशेषोक्ति' वह है जिसमें, हेतु अथवा कारण के रहते हुये भी फल अथवा कार्य न हो सकना वर्णित हुआ करता है । (विभावना की भाँति निमित्त के 'उक्त' और अनुक्त होने से) यह भी दा प्रकार की होती है--

१. 'उक्तिनिमित्ता' विशेषोक्ति और २. 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति ।

यहाँ 'तथा' (उस प्रकार का अभिप्राय) निमित्त के उक्त और अनुक्त होने का है ।

'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति, जैसे--

'वे महामहिम महापुरुष धनी होने पर भी उन्मत्त नहीं होते, युवा होने पर भी चञ्चल नहीं होते और प्रभुत्व रखने पर भी प्रमाद नहीं करते ।'

यहाँ 'महामहिमशालित्व' इन सब बातों के न होने के निमित्त के रूप में 'उक्त' है । यहीं, यदि चौथे चरण, 'महामहिमशालिनः' को हटा कर 'कियन्तः सन्ति भूतले', रख दिया जाय तब, निमित्त 'अनुक्त' रह जायगा और यहाँ 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति होगी ।

३२-- एकावली

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।।२६।।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदेकावली द्विधा ।।

क्रमेणोदाहरणम्–

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीता सङ्गीतं सस्मरोदयम् ॥'

'न तज्जलं यत्र सुचारुपङ्कजं
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

एकावली, वह अलङ्कार है जिसमें पहले-पहले के लिए अगले-अगले का विशेषण रूप में स्थापन (रखना) और अपोहन (हटाना) हुआ करता है और इसलिये इसके दो प्रकार हो जाते हैं । क्रमशः उदाहरण ये हैं–

'सरोवर ऐसे हैं जिनमें खिले कमल भरे हैं; कमल ऐसे हैं जिनमें भ्रमर भरे हैं; भ्रमर ऐसे हैं जिनमें मधुर ध्वनि भरी है और वह मधुरध्वनि ऐसी है जिनमें काम जगाने की शक्ति भरी पड़ी है।'

'ऐसा कोई जलाशय न था जिसमें सुन्दर खिले कमल न थे; ऐसा कोई कमल न था जिसमें भौरे न छिपे बैठे थे; ऐसा कोई भौंरा न था जो मीठी गुंजार न कर रहा हो और ऐसी कोई उनकी गुंजार न थी जो सुनने वाले का मन न हर लेती हो ।'

३३– स्वभावोक्तिः

स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥३०॥

दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेःस्वयोः तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयोः । यथा–

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या–
मात्मन्येवावलीयद्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ॥
स्फूर्जद्घुङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेव जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

'स्वभावोक्ति, वह है जिसे पदार्थों के दुरूह स्वाभाविक क्रियाकलाप अथवा स्वरूप का वर्णन कहा जाता है ।'

यहां 'दुरूहयोः' का अभिप्राय 'केवल कवि द्वारा होने वालों' का है, 'अर्थ' से तात्पर्य बालक आदि पदार्थों से है, और 'स्वक्रिया रूप वर्णन' से (बालक आदि के, कविमात्र-संवेद्य) स्वभाव सुलभ चेष्टादि तथा स्वरूप का वर्णन समझना चाहिये ।

जैसे--

'बार बार पूँछ फटकार कर, अगले पंजों से जमीन खोदता हुआ अपने में सिकुड़ने के बाद शीघ्र जोर से ऊपर उछलता, भयङ्कर 'घू-घू' शब्द करता, चारों ओर जीव-जन्तुओं में भगदड़ मचाता, क्रुद्ध अथवा लाल फैली हुई आँखें दिखाता यह लकड़बग्घा जंगल में घुसा जा रहा है ।'

३४-- संसृष्टिः

मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ॥

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् । यथा--

'देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम् । संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः । एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारयोः संसृष्टिः ।

'संसृष्टि' यह अलङ्कार है जिसे परस्पर निरपेक्ष शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की एकत्र स्थिति कहा करते हैं ।

यहां 'एतेषाम्' (इनका)-- इस पद से शब्द और अर्थ के उपयुक्त अलङ्कार समझे जाते हैं ।

उदाहरण के लिये--

'विकसित कलमसदृश नेत्र वाले, संसार रूपी अन्धकार को हटाने के लिये हंस (सूर्य)-- स्वरूप, कंसनिषूदन भगवान् कृष्ण 'अपाय' अथवा संकटों से 'नः पायात्' हम सब की रक्षा करे ।'

यहां 'पायादपायात्' में यमक है और 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' में वृत्त्यनुप्रास है । इस प्रकार 'यमक' और 'वृत्त्यनुप्रास' भी एक श्लोक में स्थित होने से यहाँ शब्दालङ्कारों की 'संसृष्टि' है । इसी प्रकार, दूसरे चरण अर्थात् 'स्मेरेन्दीवरलोचनः' में उपमा है और श्लोक के द्वितीयार्ध अर्थात् 'संसारध्वान्तविध्वसहंसः' में रूपक है । इस लिये यहां एकत्र स्थित दो अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है। इस प्रकार शब्द और अर्थ-- दोनों के अलङ्कारों के एकत्र अवस्थान में यहां शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की 'संसृष्टि' स्पष्ट है ।

३५-- संकरः

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ॥३१॥

यथा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरः सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥'

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

संदेहसङ्करो यथा—

'इदमाभाति गगने भिन्दानं संततं तमः ।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥'

एकाश्रयानुप्रवेशो यथा—

'संसारध्वान्तविध्वंस' इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

इति साहित्यदर्पणसङ्ग्रहेऽलङ्कारनिरूपणो नाम दशमः परिच्छेदः ।

'संकर' वह है जिसे— १. अलङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव २. एक शब्द अथवा अर्थ रूप आश्रय में एक से अधिक अलङ्कारों के अवस्थान और ३. अनेक अलङ्कारों के संदेह में, तीन प्रकार से, देखा जाता है ।

जैसे— 'संध्या अनुराग से भरी है और दिन उसके सामने खड़ा है । किन्तु दैव की गति विचित्र है क्योंकि, इतना होने पर भी, दोनों का मेल नहीं हो पाता ।'

यहां 'समासोक्ति' अलङ्कार 'विशेषोक्ति' अलङ्कार के अङ्ग रूप से विराजमान है जिससे कि इन दो अर्थालङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव में यहां 'संकर' स्पष्ट दिख रहा है ।

अलङ्कारों के संदेह में 'संकर' जैसे— 'अंधेरे को दूर करना, नेत्रों का अत्यधिक आनन्ददायक, यह चन्द्रबिम्ब गगनमण्डल में चमक रहा है ।'

एक शब्द अथवा अर्थ रूप आश्रय में अनेक अलङ्कारों के अवस्थापन में 'संकर' ('एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर) जैसे—

'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः'

आदि पूर्वोद्धृत श्लोक ।

यहां 'रूपक' और अनुप्रास' एक आश्रय में अनुप्रविष्ट हैं ।

समाप्तश्चायं साहित्यदर्पणसंग्रहः ।

॥ शमिति ॥

***